श्री वल्लभ स्मारक ग्रंथमाला—२

निग्गंठ नायपुत्त

श्रमण भगवान् महावीर

तथा

मांसाहार परिहार

लेखक

पंडित हीरालाल दूगड़ जैन

आमुख

आगम-प्रभाकर—मुनि श्री पुण्यविजयजी

प्रकाशक :—

श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब

मुख्य कार्यालय–अम्बाला शहर (पजाब)

वीरनिर्वाण सवत् २४९० ईस्वी सन् १९६४

प्रथमावत्ति १००० मूल्य—एक रुपया

मुद्रक :

शान्तिलाल जैन

श्री जैनेन्द्र प्रेस, बंगलो रोड,

जवाहर नगर, दिल्ली-६ ।

जिन्होंने साधु के कठोर व्रतों का पालन करते हुए भी लोकसेवा के बहुत काम किये और अहिंसा के मूल तत्त्वों को मानव जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिये सतत प्रयास किया, उन अज्ञान-तिमिर-तरणि कलिकाल कल्पतरु श्री श्री १००८ स्व० जैनाचार्य श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर की पवित्र स्मृति में

प्राक्कथन

कभी-कभी विद्वान् माने जाने वाले व्यक्ति भी कुछ ऐसे विचार व्यक्त कर डालते है जो सत्य तथा औचित्य की दृष्टि से सर्वथा अग्राह्य होते है। ऐसे असत्य तथा अनुपयुक्त विचारो की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति का कारण चाहे कदाग्रह हो अथवा सबद्ध विषय की यथोचित जानकारी का अभाव, परतु ऐसे विचार विषैला प्रभाव डालते हैं और उनका निराकरण आवश्यक बन जाता है।

श्री धर्मानद कौशाम्बीजी ने अपनी पुस्तक 'भगवान् बुद्ध' मे श्रमण-शिरोमणि, अहिसा के अनन्य उपासक तथा प्रसारक, भगवान् महावीर पर रोगनिवृत्ति के लिए मासभक्षण का आरोप लगाया है। सर्वप्रमुख जैनागमो मे गिने जाने वाले श्री भगवती सूत्र के एक सूत्र को उन्होंने आधार बनाया है।

भगवान् ने अपने एक मुनि शिष्य श्री सिह को कहा कि "तुम मेढिक नगर मे सेठ गृहपति की भार्या रेवती के घर जाओ और उनसे 'मज्जार कडए कुकुडमसए' (औषध रूप) ले आओ जो उन्होंने अपने लिए बना रखा है।" भगवत् वचन मे प्रयुक्त इन शब्दो का 'बिल्ले द्वारा मारे गए मुर्गे का मास' ऐसा असगत और असभाव्य अर्थ करके कौशाबीजी ने अनर्थ किया है।

हर भाषा मे अनेकार्थ शब्द रहते है। दो शब्दो से मिलकर बने हुए शब्दो का अर्थ भी बहुत बार उन दोनो शब्दो के अर्थो से सर्वथा भिन्न होता है। सस्कृत तथा प्राकृत भाषा मे तो विशेषतया अनेकार्थता पाई जाती है। इसलिए विवेकशील विद्वान् किसी भी ग्रथ मे प्रयुक्त शब्दो का अर्थ या उनकी व्याख्या करते हुए इस बात का ध्यान रखेगा कि किस व्यक्ति ने, किसको, किस समय, किस परिस्थिति मे, किस निमित्त से, किस प्रसग पर और किसके सबध मे वह शब्द कहे।

कानून (विधि Statute Law) में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ तथा उनकी व्याख्या करने में प्रसग, प्रकरण और उद्देश्य आदि का पूरा ध्यान रखना चाहिए यह निर्देश सर्वोच्च न्यायालयों ने बार-बार किया है। जैनागम के इस चर्चित सूत्र की व्याख्या करने मे उपर्युक्त सिद्धान्तों का तनिक भी ध्यान कौशाबीजी ने रखा होता तो वह ऐसा दुर्घट अथवा विकृत अर्थ न करते। देखिए :—

भगवान् महावीर—स्वय अहिसा के परमोपासक, जिनके जीवन की अनवरत साध ही सर्वांगीण अहिसा व सर्वभूतेषु दया थी;

श्री सिंह मुनि—सपूर्ण अहिसादि पच महाव्रत के धारक निर्ग्रंथ श्रमण जो किसी भी प्राणी को मन-वचन-काया से कष्ट देना भी पाप समझते हैं। किसी सचित्त वस्तु का प्रयोग भी नही करते;

रेवती सेठानी—श्रमणोपासिका श्राविका धर्म को सावधानी से पालने वाली, प्राशुक औषधदान से तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने वाली;

तेजोलेश्या से उत्पन्न रोग—रक्तपित्त, पित्तज्वर, दाह तथा रक्तातिसार जिनके लिए मुर्गे का मांस महा अपथ्य और सर्वथा अनुपयुक्त;

प्रयुक्त शब्द—वनस्पति विशेष के निर्विवाद सूचक और उनसे तैयार की हुई औषध उक्त रोगो के लिए रामबाण।

इत्यादि अनेक दृष्टिकोणो से विचार करने पर स्पष्ट है कि कौशांबीजी ने उत्सूत्र, प्ररूपणा की है।

कई विद्वानों ने अपने-अपने ढग से कौशाबीजी की धारणा को निराधार सिद्ध करने का प्रयास किया है। प० श्री हीरालालजी दूगड़ ने पूरे साधनों के अभाव में भी इस विषय पर गहराई से अध्ययन तथा मनन किया है और सही अर्थ को हर दृष्टि से स्पष्ट करने का सफल प्रयत्न किया है। कई विद्वानो ने इनके इस उद्यम-जन्य विद्वत्तापूर्ण लेख को सराहा है। इसीलिए श्री आत्मानद जैन महासभा ने इसे पुस्तक रूप मे प्रकाशित करने का निश्चय किया और पडित हीरालालजी के महान् परिश्रम को सम्मानपूर्वक पुरस्कृत किया। वह पुरस्कार गत वर्ष अक्षय तृतीया को श्री हस्तिनापुर

की पुण्यभूमि में महासभा की ओर से पडितजी को भेट करने का मुझे श्रेय प्राप्त हुआ था और उनके इस श्लाघ्य प्रयास की सराहना उस अवसर पर भी मैंने की थी।

उनके लेख को पुस्तक रूप में विद्वानों के निष्पक्ष भाव से अवलोकन के लिए भेट करने और इस चर्चित विषय की बहुमुखी व्याख्या और विशदीकरण के इस अमूल्य प्रयास को उनके समक्ष रखने मे महासभा हर्ष अनुभव करती है। हमे आशा है कि इसका अध्ययन करके सभी विवेकशील विद्वानो को सतुष्टि प्राप्त होगी।

एम-१२८, कनाट सर्कस,
नई दिल्ली-१
दिनाक १०-५-६४

विनीत
ज्ञानदास जैन, ऐडवोकेट

आमुख

प्रस्तुत पुस्तक में जैन श्रमण और श्रावक वर्ग के आचार का–विशेष तथा अहिंसक आचार का सुंदर वर्णन किया गया है, और उस आचार के साथ मांस, मदिरा आदि के सेवन का कोई मेल नही है, वे सर्वथा वर्ज्य हैं— ऐसा प्रतिपादन किया गया है। इस अहिंसक आचार के प्रतिष्ठापक भगवान् महावीर की जीवनचर्या का संक्षेप मे निरूपण भी कर दिया है, वह इसलिए कि—उन्होने स्वयं अहिंसा की प्रतिष्ठा अपने जीवन मे किस प्रकार की थी ? यह जानकर स्वयं साधु और गृहस्थ भी अपने अहिंसक आचार में अग्रसर हो और अहिंसा के पालन मे कष्टसहन की प्रेरणा भी भगवान् के जीवन से ले सके। एक पूरा प्रकरण भगवान् महावीर ने आगमो में मांस और अंडे खाने का किस प्रकार निषेध किया है और खानेवाले की कैसी दुर्गति होती है—इसके वर्णन में है। इसमे आगमों से अनेक पाठो के हिंदी अनुवाद देकर यह सिद्ध किया है कि स्वयं भगवान् महावीर ने मांस आदि के सेवन का किस प्रकार निषेध किया है।

अब मुख्य प्रश्न सामने है कि—यदि वस्तुस्थिति यह है तो आगमों मे कुछ अपवाद के रूप मे मांसाशन सम्बन्धी पाठ आते है। उनकी भगवान् महावीर के उक्त अहिंसा के उपदेश से किस प्रकार संगति है ? आज से एक हजार वर्ष से भी पहले यही प्रश्न टीकाकारो के समक्ष था और आज के आधुनिक युग मे भी कई लेखको ने इस ओर जैन विद्वानो का ध्यान दिलाया है। यह प्रश्न बडी परेशानी तब करता है जबकि आज हम यह देखते है कि—जैन समाज मे मांसाशन सर्वथा त्याज्य है और डर यह लगता है कि—कही अनास्थावाले लोग उन पाठों को आगे करके मांसाशन का सिलसिला पुनः जारी न कर दें। यह समस्या जैसे आज है वैसे पूर्वकाल में भी थी।

और अहिंसा के परम उपासक के जीवन में मासाशन का मेल बैठ ही नहीं सकता है यह हमारी धारणा जैसे आज है वैसे प्राचीनकाल मे भी थी। यह भी एक प्रश्न बारबार सामने आता है कि जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने मांस खाया यदि उसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी खाया तथा जिस प्रकार आज बुद्ध के अनुयायी मासाशन करते है उस प्रकार कभी-कभी जैन श्रमणों ने और गृहस्थों ने भी किया, तो अहिंसा के आचार मे भगवान् महावीर और उनके अनुयायी की इतरजनो से क्या विशेषता रही ? ये और ऐसे अनेक प्रश्न अहिंसा में सम्पूर्ण निष्ठा रखने वालो के सामने आते है। अतएव उनका कालानुसारी समाधान जरूरी है। पूर्वाचार्यो ने तो उन-उन पाठो मे उन शब्दो का वनस्पतिपरक अर्थ भी होता है ऐसा कहकर छुट्टी ले ली, किन्तु इससे पूरा समाधान किसी के मन मे होता नही और प्रश्न बना ही रहता है। आधुनिक काल मे जब त्याग की अपेक्षा भोग की ओर ही सहज झुकाव होता है, तब ऐसे पाठ मानव-मन को अहिंसा निष्ठा मे विचलित कर दें और वह त्याग की अपेक्षा भोग का मार्ग ले, यह होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से उन पाठों का पुर्नविचार होना जरूरी है, ऐसा समझकर लेखक ने जो यह प्रयत्न किया है वह सराहनीय और विचारणीय है।

लेखक ने विविध प्रमाण देकर भरसक प्रयत्न किया है कि—उन सभी पाठो मे मास का कोई सम्बन्ध ही नही है। अनेक कोष और शास्त्रो से यह सिद्ध किया है कि उन शब्दो का वनस्पतिपरक अर्थ किस प्रकार होता है। इसे पढ़कर अस्थिर चित्तवालो की अहिंसा निष्ठा दृढ होगी—इसमे संदेह नही है, और आक्षेप करनेवालो के लिए भी नयी सामग्री उपस्थित की गई है, जो उनके विचार को बदल भी सकती है। इस दृष्टि से लेखक ने महत् पुण्य की कमाई की है और एतदर्थ हम सभी अहिंसा निष्ठा रखनेवालो के वे धन्यवाद के पात्र है।

—मुनि पुण्यविजय

अपनी बात

विश्व के अहिंसा में निष्ठा रखनेवाले जन-समाज में साधारण रूप से तथा जैन समाज में विशेष रूप से खलबली मचा देनेवाली "भगवान् बुद्ध" नामक पुस्तक भारत सरकार की "साहित्य अकादमी" द्वारा सन् १९५६ ईसवी में हिन्दी भाषा में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक बौद्ध-दर्शन के विद्वान् अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी लिखित मराठी भाषा मे "बुद्ध-चरित्र" का अनुवाद है।

यद्यपि मराठी "बुद्ध-चरित्र" पुस्तक कुछ वर्षों पहले छप चुकी थी परन्तु उसका प्रचार महाराष्ट्र मे कतिपय व्यक्तियों तक सीमित होने से जैन समाज को इस पुस्तक सम्बन्धी विषय का पता न लगा। जब भारत सरकार ने इसका अनुवाद हिन्दी, गुजराती, मराठी, आसामी, कन्नड़ी, मलयालम, उडिया, सिंधी, तेमिल, तेलुगु और उर्दू इन ग्यारह भारतीय प्रमुख भाषाओ मे अपनी साहित्य अकादमी द्वारा प्रायः एक साथ प्रकाशित करवाकर सर्वव्यापी प्रचार प्रारंभ किया, तब जैन समाज को ज्ञात हुआ कि इस पुस्तक मे "करुणा के प्रत्यक्ष अवतार, दीर्घ तपस्वी, महाश्रमण निग्गठ नायपुत्त भगवान् वर्द्धमान–महावीर स्वामी तथा निर्ग्रंथ (जैन) श्रमणो पर लेखक महोदय ने मास भक्षण का आरोप लगाया है, जो सर्वथा अनुचित है।

अहिसा में निष्ठा रखनेवाले मानव समाज ने तथा विशेष रूप से जैन समस्त समाज ने सर्वत्र इस पुस्तक का विरोध किया। इसे जब्त करने के लिये स्थान-स्थान पर सभाएं हुई, प्रस्ताव पास किये गये तथा भारत सरकार को इस विषय में तार व अर्जियाँ भेजी गयी। अनेक शिष्ट मंडल भी योग्य अधिकारियों से मिले। अनेक स्थानों मे सनातन धर्मियों

की सभाओ ने भी इस पुस्तक के विरोध मे प्रस्ताव पास कर योग्य अधिकारियों को भेजें।

इस आन्दोलन का परिणाम मात्र इतना ही हुआ कि "उक्त पुस्तक दोबारा न छपवाने का तथा इन प्रकाशित सस्करणो मे मास सम्बन्धी प्रकरण के साथ जैन विद्वानो के मान्य अर्थ को सूचित करनेवाला नोट लगवा देने का अकादमी ने स्वीकार किया परन्तु खेद का विषय यह है कि इस पुस्तक का ग्यारह भाषाओ मे सर्वव्यापक प्रचार बराबर आज भी चालू है।

भारत एक धर्म-प्रधान देश है, मात्र इतना ही नही, अपितु सत्य और अहिसा की जन्म-भूमि है। इसी धर्म वसुन्धरा पर भारत की सर्वोच्च विभूति महान् अहिंसक, करुणा के प्रत्यक्ष अवतार, दीर्घ तपस्वी, महाश्रमण निर्ग्रंथ तीर्थंकर (निगठ नायपुत्त) भगवान् महावीर स्वामी (जैना के चौबीसवे तीर्थंकर) का जन्म हुआ। इसी पवित्र भारत भूमि मे उन्होंने जगत् को सत्य, अहिसा, अपरिग्रह तथा स्याद्वाद आदि सत्सिद्धान्तो को प्रदान किया। समस्त विश्व इस बात को स्वीकार करता है कि 'श्रमण भगवान् वर्द्धमान महावीर तथा उनके अनुयायी निर्ग्रंथ जैन श्रमण मनसा-वाचा-कर्मणा अहिंसा के प्रतिपालक थे और उनके अनुयायी श्रमण एव श्रमणोपासक आज तक इसके प्रतिपालक है।"

ऐसा होते हुए भी ईस्वी सन् १८८४ मे यानि आज से ८० वष पहले जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्मन जैकोबी ने जैनागम "आचारांग सूत्र" के अपने अनुवाद में सूत्रगत मास आदि शब्दोवाले उल्लेखो का जो अर्थ किया था उस पर विद्वानो ने पर्याप्त ऊहापोह किया था। अनेक विद्वानो ने डाक्टर जैकोबी के मन्तव्यो के खडन रूप पुस्तिकाए भी लिखी थी जिसके परिणामस्वरूप डाक्टर जैकोबी को अपना मत परिवर्तन करना पडा। उन्होंने अपने १४-२-१९२८ ईसवी के पत्र में अपनी भूल स्वीकार की। उस पत्र का उल्लेख "हिस्ट्री आव कैनानिकल लिटरेचर आव जैनाज" पृष्ठ ११७-११८ में हीरालाल रसिकलाल कापडिया ने इस प्रकार किया है :—

There he has said that "बहु अट्ठिएण मंसेण वा मच्छेण वा बहुकण्टएण" has been used in the metaphorical sence as can be seen from the illustration of नन्तरीयकत्व given by Patanjali in discussing a vartika of Panini (III, 3, 9) and from Vachaspati's com. on Nyayasutra (IV, 1,54) he has concluded : "This meaning of the passage in therefore, that a monk should not accept in alms any substance of which only of which only a part can be eaten and a greater part must be rejected."

डॉक्टर हर्मन जैकोबी के इस स्पष्टीकरण के बाद आस्लो के विद्वान् डाक्टर स्टेन कोनो ने अपने मत को एक पत्र द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया है जिसका हिन्दी अर्थ नीचे दिया जाता है :—

"जैनों के मास खाने की बहु-विवादग्रस्त बात का स्पष्टीकरण करके प्रोफेसर जेकोबी ने विद्वानों का बडा हित किया है। प्रकट रूप से यह बात मुझे कभी स्वीकार्य नही लगी कि जिस धर्म मे अहिंसा और मातृत्व का इतना महत्त्वपूर्ण अश हो, उसमे मास खाना किसी काल मे भी धर्मसगत माना जाता रहा होगा। प्रोफेसर जैकोबी की छोटी-सी टिप्पणी से सभी बात स्पष्ट हो जाती है। उसकी चर्चा करने का प्रयोजन यह है कि मै उनके स्पष्टीकरण की ओर जितना सभव हो उतने अधिक विद्वानो का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। पर निश्चय ही अभी भी ऐसे लोग होंगे जो (जैकोबी के) पुराने सिद्धान्त पर दृढ़ रहेंगे। मिथ्यादृष्टि से मुक्त होना बडा कठिन है पर अन्त मे सदा सत्य की विजय होती है।"

(आचार्य विजयेन्द्रसूरि कृत तीर्थंकर महावीर भाग २ पृ० १८१)

जैकोबी के बाद इस प्रश्न को श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल ने तथा अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने श्रमण भगवान् महावीर को तथा निर्ग्रंथ (जैन)श्रमणो को मासाहारी सिद्ध करने का दुःसाहस किया है। श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल आज जीवित है पर अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी इस संसार से विदा ले चुके हैं। इन दोनों ने जैनागमो के गूढ़ार्थ युक्त उन उल्लेखो

को संसार के समक्ष अयथार्थ रूप से प्रकट कर जो चर्चा उपस्थित की है उसका आज तक अन्त नही आया।

यद्यपि अध्यापक कौशाम्बी पाली भाषा तथा बौद्ध साहित्य के प्रखर विद्वान् माने जाते थे परन्तु अर्द्ध मागधी भाषा के तथा जैन आचार-विचार के पूर्णज्ञाता न होने के कारण एव गोपालदास भाई पटेल भी इन विषयों मे अनभिज्ञ होने के कारण (दोनों ने) जैनागमो के कथित सूत्रपाठों का गलत अर्थ लगाकर निग्गठ नायपुत्त श्रमण भगवान् महावीर तथा उनके अनुयायी निर्ग्रंथ श्रमण संघ पर प्राण्यग मत्स्य मासाहार का निर्मूल आक्षेप लगाया है। वास्तव मे बात यह है कि जो भी कोई अहिसा धर्म के अनन्य सम्थापक, प्रचारक, विश्ववत्सल, जगद्-बन्धु, दीर्घ तपस्वी, महाश्रमण भगवान् महावीर पर मासाहार का दोषारोपण करता है, वह भगवान् महावीर को यथायोग्य नही समझ सका, उनके वास्तविक पवित्र जीवन को नही समझ पाया। यही कारण है कि ऐसे व्यक्ति ऐसा अप्रशस्त दुस्साहस कर ज्ञात-अज्ञात भाव से मासाहार प्रचार का निमित्त बन जाते है। ऐसे निर्मूल आक्षेप का प्रतिवाद करना सत्य तथा अहिमा के प्रेमियो के लिये अनिवार्य हो जाता है। इसी बात को लक्ष्य मे रखते हुए कई विद्वानो ने इस प्रतिवाद रूप कुछ लेख तथा पुस्तिकाये लिखकर प्रकाशित की।

फिर भी, जिज्ञासुओ के लिये इस विषय मे विशेष रूप से खोजपूर्ण लेख की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। अतः भारत के अनेक स्थानो से मित्रो तथा विद्यार्थी बन्धुओं ने अपने पत्रों द्वारा तथा साक्षात् रूप मे मिलकर मुझे इस "भगवान् बुद्ध" के मांसाहार प्रकरण के प्रतिवाद रूप शोध-खोजपूर्ण, युक्ति पुरस्सर, जैनशास्त्र-सम्मत तथा जैन आचार-विचार के अनुकूल निबध लिखने की आग्रहभरी पुन-पुनः प्रेरणाये की। इन निरन्तर की प्रेरणाओ ने मेरे मन मे सुषुप्त इच्छाओं को बल प्रदान किया।

विशेष रूप से श्री रमेशचन्द्रजी दूगड़ जैन (पश्चिम पाकिस्तान से आये हुए) कानपुर निवासी ने इस विषय पर कुछ नोट लिख भेजे और भावना प्रकट की कि इस विषय पर एक सुन्दर निबन्ध तैयार किया जावे

इससे मुझे विशेष रूप से सक्रिय प्रेरणा तथा उत्साह मिला और दृढ़ संकल्प बनने में सहायता मिली। मैंने उनमें से कुछ उपयोगी नोट्स इस निबन्ध मे स्वीकार किये हैं। अतः मैं उन सब प्रेरणादाताओ का आभारी हूँ।

मैंने इस निबन्ध को ईसवी सन् १९५७ में अम्बाला शहर पंजाब में लिखना प्रारभ किया और पूरे दो वर्ष के सतत परिश्रम के बाद ईसवी सन् १९५९ को लिखकर तैयार हो गया। मै सन् ईसवी १९६२ को दिल्ली आ गया।

इस निबन्ध को तैयार करने में कई अड़चने, प्रतिबन्ध और असुविधाओ तथा माधन-सामग्री के अभाव के बीच में से गुजरना पड़ा। येन-केन प्रकारेण साधन सामग्री जुटाकर और सब अडचनों का सामना करते हुए यह निबन्ध ईसवी सन् १९५९ में तैयार होकर पूरे पांच वर्ष बाद आज सन् ईस्वी १९६४ मे श्री आत्मानन्द जैन महासभा पजाब द्वारा प्रकाशित होकर आपके कर कमलों तक पहुच पाया है। आशा तो थी यह जल्दी प्रकाशित होता लेकिन "श्रेयासि बहु विघ्नानि" लोकोक्ति यहा भी प्रबल बनी।

अब मेरी यह हार्दिक भावना है कि इस निबन्ध का अनेक भाषाओं मे अनुवाद होकर विश्वभर में सर्वत्र प्रचार हो, जिससे जैन धर्म, जैन तीर्थकरो, जैन आगमो, जैन मुनियों तथा जैन गृहस्थों पर लगाये गये नितान्त मिथ्या आक्षेपों का निरसन होकर इसका सत्य और वास्तविक स्वरूप से विश्व का मानव-समाज परिचित हो।

अहिसा प्रेमी महानुभावो को इसके सर्वत्र प्रचार के लिए इस निबन्ध की प्रकाशक सस्था को प्रोत्साहन देते रहना चाहिये।

इस निबन्ध मे यह सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि निग्गठ नायपुत्त श्रमण भगवान् महावीर ने उत्सर्ग तथा अपवाद किसी भी सूरत मे प्राण्यंग मासाहार ग्रहण नही किया और न ही आप अपने सिद्धान्त (आचार-विचार) के अनुसार ऐसा अभक्ष्य पदार्थ ग्रहण कर सकते थे। उत्सर्ग मार्ग वह सिद्धान्त है जो प्रधान मार्ग है। महापुरुष के जीवन मे हमेशा प्रधान मार्ग का ही आचरण रहता है। उनके लिये देहाध्यास कोई खास वस्तु नही है।

अत: वे अपने जीवन में किसी भी हालत मे अपने लिये अपवाद मार्ग का आश्रय नहीं लेते। इसका आशय यह है कि वे अपने जीवन मे हिसा आदि जिसमें हो ऐसा कोई कार्य नही करते। अत: प्राण्यग मासादि को ग्रहण करना उनके लिये असभव ही है इसलिये जैनो के पाँचवें आगम "भगवती सूत्र" के विवादास्पद सूत्रपाठ के शब्दो का प्राण्यग मांसपरक अर्थ करना नितात अनुचित और गलत है तथा श्रमण भगवान् महावीर को जो रोग था जिसके लिये उन्होने जिस औषध का सेवन किया था यदि वह प्राण्यग मास होता तो वह प्राणघातक मिद्ध होता। इसलिए उन्होने वनस्पतियो से तैयार हुई औषधि का सेवन कर आरोग्य लाभ किया। वह औषध :—

"लवंग से सस्कारित बिजोरा (जम्बीर) फल का पाक" औषध रूप में ग्रहण किया था। क्योंकि इस औषध में रक्त-पित्त आदि रोगों को शमन करने के पूर्ण गुण विद्यमान है।

श्वेताबर जैनो द्वारा मान्य इस सूत्रपाठ का अर्थ वनस्पतिपरक औषध रूप मे सुज्ञ दिगम्बर जैन विद्वानों ने भी स्वीकार किया है और इस औषध-दान की भूरि-भूरि प्रशसा की है। मात्र इतना ही नही, अपितु यह भी स्वीकार किया है कि भगवान् को इस औषध दान देने के प्रभाव से रेवती श्राविका ने तीर्थकर नाम-कर्म का उपार्जन किया, इसलिए औषध दान भी देना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि सुज्ञ दिगम्बर जैन विद्वानो को भी इस औषध के वनस्पतिपरक अर्थ मे कोई मतभेद नही है। देखे इसी निबन्ध का पृष्ठ ७८।

अधिक क्या कहे गलत तथा भ्रान्तिपूर्ण ऐसा अनुचित प्रचार कर अति प्राचीनकाल से चले आये जैन धर्म के पवित्र और सत्य सिद्धान्तो को तोड़-मोडकर रखने से ऐसे पवित्र सत्सिद्धान्तो से अज्ञान तथा द्वेषियो को मिथ्या प्रचार करने का मौका मिलता है। अत. कोई विद्वान् यदि किसी गलतफहमी का शिकार हो भी गया है तो उसे इस बात को सत्य रूप मे जानकर अपनी भूल के लिये प्रतिवाद तथा पश्चात्ताप करना ही उसकी सच्ची विद्वत्ता की कसौटी है।

तथा "अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी एवं श्रीगोपालदास भाई पटेल ने इस भगवती सूत्र के पाठ के अतिरिक्त जैनागमो दशवैकालिक तथा आचाराग के जिन सूत्रपाठो का भी ऐसा ही अनुचित अर्थ किया है उनके स्पष्टीकरण के लिये भी इस प्रस्तावना मे जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्मन जैकोबी ने अपनी इस भूल को जो सरल हृदय से स्वीकार कर उसके प्रतिकार रूप में अपना स्पष्ट मत प्रदर्शित करनेवाला स्पष्टीकरण किया है, वह नोट उद्धृत कर दिया है तथा इसके साथ ही हमने इस निबंध के पृष्ठ १५४ से १५७ की टिप्पणी मे उन सूत्रपाठो मे दिये गये विवादास्पद शब्दो के वनस्पतिपरक अर्थ भी दे दिये है जिनसे पाठकों को यह भी स्पष्ट हो जाय कि इनका अर्थ वनस्पतिपरक करना ही उचित है।

क्योंकि हमारे इस निबन्ध का मुख्य विषय "भगवती सूत्र" के विवादास्पद सूत्रपाठ के अर्थ का स्पष्टीकरण है इसलिये दूसरे आगमो के विवादास्पद सूत्रपाठो के शब्दो का वनस्पतिपरक अर्थ-मात्र देना ही इसलिये पर्याप्त समझा है कि समझदार के लिये इशारा मात्र ही काफी है। आशा है कि इससे पाठक महानुभावो को यह स्थिति सरलतापूर्वक अवश्य समझ मे आ सकेगी जिज्ञेषु कि बहुना।

इस निबन्ध पर कोई लम्बी-चौडी प्रस्तावना लिखकर हम आपका और अपना समय खर्च करना उचित नही समझते। पाठक महानुभावो से मात्र इतना ही अनुरोध है कि आप इस निबन्ध को स्थित प्रज्ञता के साथ पढ़े और निर्णय करे कि इस कार्य मे हमे कहा तक सफलता प्राप्त हुई है। एवं इसमे यदि कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो हमे सूचित करने की कृपा करे ताकि अगले सस्करण मे इसे परिमार्जित कर दिया जाय।

जैनों तथा जैन धर्म के लिये "अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी कृत "भगवान् बुद्ध" नामक पुस्तक एक लांछन रूप है। जब तक निर्ग्रंथ जैन श्रमणों तथा महाश्रमण निग्गठ नायपुत्त भगवान् श्री महावीर स्वामी पर लगाये गये प्राण्यग मासाहार के दोषवाले पृष्ठ इस पुस्तक में से निकाले नही जाते, तब तक जैन समाज तथा अहिसा मे निष्ठा रखनेवाले जन-

समाज में संतोष नहीं हो सकता। तथा भाई गोपालदास जावाभाई अथवा जो कोई अन्य महानुभाव भी इसका अनुकरण कर रहे हों उनको भी वास्तविक अर्थ समझकर अपनी भूल को स्वीकार कर अपनी सरलता और सत्यप्रियता का परिचय देते हुए वास्तविक विद्वत्ता का परिचय देना चाहिये।

भारत सरकार से भी हमारी प्रार्थना है कि जिस प्रकार Religious Leaders (धार्मिक नेता) नामक पुस्तक प्रकाशित होने पर अल्प-संख्यको की भावनाओ का आदर करते हुए उसे जब्त कर तथा "सरिता" मासिक पत्रिका के जुलाई के अक को जब्त करके सत्य परायणता का परिचय दिया है वैसे ही अध्यापक धर्मानन्द कोशाम्बी कृत "भगवान् बुद्ध" नामक पुस्तक के लिये भी कदम उठाये जिससे अहिसा-प्रेमी जगत् के सामने शुद्ध न्याय का परिचय मिले।

इस निबन्ध को लिखने में जिन ग्रथो की सहायता ली गयी है उनकी सूची आगे दी है। उन सब ग्रथकर्त्ताओ का साभार धन्यवाद।

इस निबन्ध सम्बन्धी सब प्रकार की सम्मतियां एव सूचनाये नीचे लिखे पते से भेजकर अनुग्रहीत करे।

२/८२ रूपनगर,
दिल्ली-६

हीरालाल दूगड़
व्यवस्थापक, जैन प्राच्यग्रथ भडार

कृतज्ञता-प्रकाश

अपने परमोपकारी गुरुदेव जैनाचार्य स्व० श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वरजी के देवलोक गमन के उपरान्त श्री आत्मानन्द जैन महासभा पजाब अथवा समस्त पजाब जैन श्री संघ ने एक स्वर से सङ्कल्प किया था कि गुरुदेव के मिशन की पूर्ति के लिए श्रीवल्लभ स्मारक की स्थापना की जाए। स्मारक मे अनेक प्रवृत्तियो का आयोजन है—गुरुवर श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर व श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वर की कलात्मक प्रतिमाएँ, हस्त-लिखित शास्त्रों का सग्रह व रक्षण, पुस्तकालय, ग्रन्थ प्रकाशन, शोध-कार्य, कलाकक्ष, अतिथिगृह आदि।

स्मारक की स्थापना देहली में होगी। इस समय भण्डारों के ग्रंथों का सूत्रीकरण हो रहा है। प० हीरालालजी दूगड़ यह उपयोगी काम कर रहे है। साहित्य प्रकाशन की ओर भी पग उठाया गया है। 'आदर्श जीवन' का प्रकाशन हो चुका है। सस्ता साहित्य मंडल के सहयोग से 'मानव और धर्म' (लेखक डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम.ए., पी एच. डी.) भी प्रकाशित हो चुका है।

प्रस्तुत पुस्तक एक महत्त्वपूर्ण विवादास्पद विषय पर लिखी गई है। विद्वान् लेखक व्याख्यान दिवाकर, विद्याभूषण प० हीरालाल दूगड न्याय-तीर्थ, न्यायमनीषी, स्नातक ने कठोर परिश्रम से इसे तय्यार किया है। हमे आशा है कि विद्वान् इसका समुचित अध्ययन कर प्रचलित भ्रान्ति दूर कर हमे अपनी सम्मति भेजेगे। हम लेखक महोदय, आमुख लेखक मुनिराज श्री पुण्यविजयजी तथा श्री ज्ञानदासजी एडवोकेट का हार्दिक आभार मानते है, जिनके प्रयत्नों व प्रेरणाओं से यह पुस्तक साहित्य-जगत् के समक्ष उपस्थित हो रही है। आर्थिक सहायकों के भी हम कृतज्ञ है।

जेठ शुदि अष्टमी
वि० २०२१

श्री आत्मानन्द जैन
महासभा, पंजाब

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

जैन आचार-विचार तथा निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर

द्वितीय खंड

निग्गठ नायपुत्त श्रमण भगवान् महावीर पर मासाहार के आक्षेप का निराकरण

तृतीय खंड

साधन ग्रन्थों की नामावली

१. अथर्ववेद संहिता

२. अर्थशास्त्र (कौटिल्य)

३. अनेकार्थ तिलक (महीपकृत)

४. अनेकार्थ सग्रह

५. अमर कोश

६. अष्टागसार संग्रह

७. आर्यभिषक वैद्यक (शकर दाजीपदे कृत)

८. उपनिषद् वाक्य कोश

९. ऋग्वेद संहिता

१०. क्षेम कुतूहल

११. गृह्यसूत्र

१२. चरक संहिता

जैन साहित्य

१३. अभिधान चितामणि कोश (हेमचन्द्र)

१४. आगम-आचारांग

१५ आगम-सूत्रकृतांग

१६. आगम स्थानांग

१७. आगम स्थानाग सूत्र टीका

१८. आगम भगवती सूत्र

१९. आगम भगवती सूत्र टीका

२०. आगम ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र

२१. आगम उपासक दशांग सूत्र

२२. आगम अन्तकृतदशाग मूत्र
२३. आगम प्रश्न व्याकरण सूत्र
२४. आगम विपाक मूत्र
२५. आगम प्रज्ञापना मूत्र
२६. आगम कल्प सूत्र
२७. आगम दशवैकालिक सूत्र
२८. आगम उत्तराध्ययन मूत्र
२९. आगम अनुयोगद्वार सूत्र
३०. जैन चरित माला (दिगम्बर)
३१ जैन सत्य प्रकाश (मासिक)
३२. तत्त्वार्थ सूत्र
३३ तिरुकुरल-प्रस्तावना (दिगम्बर)
३४ त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र (हेमचन्द्र)
३५ धर्म-बिन्दु (हरिभद्र)
३६. धर्म-रत्न करडक (वर्द्धमान सूरि)
३७ निघण्टु सग्रह (हेमचन्द्र)
३८ महावीर चरित्र प्राकृत (नेमिचन्द्र सूरि)
३९ महावीर चरित्र प्राकृत (गुणचन्द्र सूरि)
४० योगशास्त्र (हेमचन्द्र)
४१ श्राद्ध गुण विवरण
४२ षड० प्राकृ० (हेमचन्द्र)
४३ सबोध प्रकरण
४४ सबोध सप्ततिका
४५ जैन पत्र-पत्रिकाए

निघण्टु कोश

४६ नानार्थ रत्नमाला
४७ निघण्टु (कयदेव)

४८ निघुण्टु-भावप्रकाश

४९ निघण्टु-मदनपाल

५० निघण्टु-रत्नाकर

५१ निघण्टु-राज

५२ निघण्टु-राजवल्लभ

५३ निघण्टु वैद्यक उर्दू भाषा मे (कृष्ण दयाल)

५४ निघण्टु शालिग्राम

५५ निघण्टु शेष

५६ निरुक्त भाष्य (आचार्य यास्क)

५७ पाक दर्पण

बौद्ध साहित्य

५८ अगुत्तर निकाय

५९ अट्ठ कथा

६० पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म (धर्मानन्द कौशाबी)

६१ वही

६२ बोद्ध-दर्शन (राहुल साकृत्यायन)

६३ भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कौशाम्बी)

६४ मज्झिम निकाय

६५ ललित विस्तर

अन्य ग्रंथ

६६ धर्मसिंधु

६७ बृहत्संस्कृताभिधान (वाचस्पति)

६८ बृहदारण्यकोपनिषद

६९ वैजयन्ती

७० वैद्यक शब्द सिन्धु

७१ सारंगधर

७२. हिन्दी विश्वकोश
७३. ऐतरेय ब्राह्मण
७४. पत्र-पत्रिकाएं

ENGLISH BOOKS

75. Sanskrit English Dictionary (Apte)
76. English Dictionary (J. Ogilvie)
77. Sanskrit English Dictionary (Monier Monier-Williams)
78. A. S. B 1868 N/85
79. Mr. Gate report
80. Hinduism (Prof. D. C. Sharma)

उद्धरण

१. डा० गधा विनोद पाल
२. मि सरसली
३. महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी
४. मि. एव कूप लेड
५. मि. बेगलर
६. कर्नल डैलटन
७. लोकमान्य बालगगाधर तिलक
८. अल्लाडी कृष्णा स्वामी अय्यर
९. डा. हर्मन जेकोबी
१०. डा. स्टेन कोनो

प्रथम खण्ड

जैन आचार-विचार तथा निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर

[१]

जैन अहिंसा का प्रभाव

जैन अहिंसा के बारे में कौन नहीं जानता ? जैन धर्म के प्रत्येक आचार-विचार की कसौटी अहिंसा ही है। जैन धर्म की इसी विशेषता के कारण विश्व का अन्य कोई भी धर्म इस की समानता नहीं कर सकता। आज भी जैनों के अहिंसा, संयम, तप का पालन तथा मदिरा-मांसादि का त्याग सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। इसी लिये यह धर्म "दया-धर्म" के नाम से आज भी जगद्विख्यात है। इसकी अलौकिक अहिंसा को देखकर आज के विचक्षण विद्वान् मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं। डा० राधा विनोद पाल Ex-judge, International Tribunal for trying the Japanese War Criminals, ने अपने अभिप्राय मे कहा है कि:—

If any body has any right to receive and welcome the delegates to any Pacifists' Conference, it is the Jain Community. The principle of Ahimsa, which alone can secure World Peace, has indeed been the special contribution to the cause of human development by the Jain Tirthankaras, and who else would have the right to talk of World Peace than the followers of the great Sages Lord Parshvanath and Lord Mahavira ?

—(Dr. Radha Vinod Paul)

अर्थात्—विश्वशान्ति संस्थापक सभा के प्रतिनिधियों का हार्दिक स्वागत करने का अधिकार केवल जैनों को ही है, क्योंकि अहिंसा ही विश्वशान्ति का साम्राज्य पैदा कर सकती है और ऐसी अनोखी अहिंसा की भेट जगत् को जैन धर्म के प्रस्थापक तीर्थंकरों ने ही की है। इस लिये

विश्वशांति की आवाज प्रभु श्री पार्श्वनाथ और प्रभु श्री महावीर के अनुयायियों के अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है ?

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी लिखते हैं कि "महावीर स्वामी का नाम किसी भी सिद्धान्त के लिये यदि पूजा जाता है तो वह अहिंसा ही है। प्रत्येक धर्म की महत्ता इसी बात में है कि उस धर्म में अहिंसा का तत्त्व कितने प्रमाण में है। और इस तत्त्व को यदि किसी ने अधिक-से-अधिक विकसित किया है तो वह भगवान् महावीर ही थे।"

भगवान् महावीर हो अथवा कोई भी जैन तीर्थंकर हो, न तो वे स्वय ही मदिरा -मांसादि का प्रयोग करते हैं और न ही उनके अनुयायी यहाँ तक कि जैन धर्म पर विश्वास रखने वाले गृहस्थ भी, जो किसी तरह का व्रत-नियम या प्रतिज्ञा को ग्रहण नहीं करते अर्थात् श्रावक के व्रतों को भी ग्रहण नही करते, मांस-मदिरादि अभक्ष्य पदार्थों से हमेशा दूर रहते आ रहे हैं। भगवान् महावीर आदि जैन तीर्थंकरों के मांसाहार निरोध का सविशेष परिचायक सबूत (प्रमाण) इससे अधिक क्या हो सकता है।[1]

निर्ग्रंथ श्रमण-जैन साधु तो छः काया के जीवों की हिंसा से बचते हैं। वे त्रसकाय के जीवों का आरंभ (हिंसा) नहीं करते, सचित्त फल, फूल, सब्जी आदि का भक्षण नही करते। अग्निकाय का आरम्भ नही करते। सचित्त जल का उपयोग नही करते। बैठना या खड़े होना हो तो रजोहरण (ऊनादि नरम वस्तु का एक गुच्छा, जिससे स्थान साफ करने पर जीवादि की हिंसा का बचाव होता है) से स्थानादि का प्रमार्जन (साफ़-सूफ़) करके बैठते, उठते, चलते, सोते हैं, ताकि किसी सूक्ष्म जीव की भी हिंसा न हो जाये। पृथ्वी को न स्वयं खोदते हैं न दूसरों से खुदवाते हैं। वायुकाय (वायु के जीवों) की हिंसा से बचने के लिए न खा चलाते हैं, न

१. भगवान् महावीर तथा उनके अनुयायी निर्ग्रंथ श्रमण एवं श्रमणोपासकों के आचार सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण अगले स्तम्भों में करेंगे।

दूसरों से चलवाते हैं। रात्रि-भोजन भी नहीं करते, क्योंकि इससे प्रायः त्रस जीवों की हिंसा होती है तथा भोजन के साथ त्रस जीवों के पेट में चले जाने से मांसभक्षण का दोष भी संभव है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि समस्त जैन तीर्थंकरों—भगवान् महावीर आदि—ने अपने अनुयायी जैन मुनियों के लिये स्थूल से लेकर सूक्ष्म हिंसा से बचने के लिये तथा अहिंसापालन के प्रति कितना जागरूक रहने का आदेश दिया है। जिसके फलस्वरूप आज तक जैन साधु-साध्वी संघ स्थूल से लेकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अहिंसा का पालन करने में सदा जागरूक चला आ रहा है। यह बात आज भी संसार प्रत्यक्ष देख रहा है।

प्राणी मात्र के रक्षक सर्वज्ञ भगवान् महावीर जीव का स्वरूप जानते थे। उन्होंने बतलाया कि मानव जब तक इतनी सूक्ष्म अहिंसा का पालन नहीं करता तब तक वह निर्वाण (मोक्ष) प्राप्ति में समर्थ नहीं हो सकता। शाश्वत सुख प्राप्त करने का अहिंसा के पूर्ण पालन को छोड़कर अन्य साधन हो ही नहीं सकता। इसी वजह से वीतराग-सर्वज्ञ भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट आगमों का प्रधान विषय अहिंसा ही है। जो धर्मनियामक तीर्थंकर यहाँ तक सूक्ष्म रूप से जीवों की हिंसा से स्वयं बचते हैं और दूसरों के लिये बचने का विधान करते हैं उन पर मांस-भक्षण का आरोप लगाना कहाँ तक उचित है? इसके लिये सुज्ञ पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।

अहिंसा के विषय में करुणासागर वीतराग सर्वज्ञ भगवान् महावीर ने यह स्वयं फ़रमाया है :—

"सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुहपडिकूला,
अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा णातिवाएज्ज कंचणं"

(आचारांग श्रु० १ अ० २ उ० ३)

अर्थात्—सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है, सब सुख के अभिलाषी हैं, दुःख सब को प्रतिकूल है, वध सबको अप्रिय है, जीवन सभी को पिय है, सभी जीने की इच्छा रखते हैं, स लिये किसी को मारना या कष्ट देना नहीं चाहिये।

अहिंसा धर्म की इतनी महिमा संसार के अन्य किसी धर्म में नहीं पायी जाती। कितना सुन्दर विचार है—

"स्थूल से लेकर सूक्ष्म सब जीवों को अपने समान समझो और किसी को कष्ट मत पहुँचाओ, अपने में सबको देखो।"

इससे यह स्पष्ट है कि महाश्रमण भगवान् महावीर की भावना प्राणी-मात्र की रक्षा के लिये कितनी उत्कट थी। यह शाश्वत सिद्धांत जैनों में अब तक अटूट बना रहा है। जैन-मुनि—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि त्रस जीवो तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति स्थावर जीवों की हिंसा मन-वचन-काया से न तो स्वयं करते है, न दूसरों से करवाते हैं और न करनेवाले का अनुमोदन (प्रशंसा) ही करते हैं। जब कोई गृहस्थ जैन मुनि की दीक्षा ग्रहण करता है तब उसे सर्व प्रथम "प्राणातिपात-विरमण" नामक महाव्रत को अंगीकार करना पड़ता है, जिस का पालन वह अपने जीवन पर्यंत पूरी दृढ़ता के साथ करता है। सारांश यह है कि निर्ग्रंथ श्रमण छोटे-से-छोटे जन्तु से लेकर मनुष्य पर्यन्त किसी भी प्राणी की हिंसा न तो स्वयं करता है और न दूसरों को ऐसा करने का उपदेश देता है तथा न ही ऐसा करने वाले को अच्छा समझता है। साधु की अहिंसा का स्वरूप आगे चलकर हम साधु के आचार में लिखेंगे।

करुणावत्सल, महाश्रमण सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर स्वामी ने इस उपर्युक्त प्रकार की अहिंसा का विश्वके जनसमाज को मात्र उपदेश ही नहीं दिया था किन्तु अक्षरशः उन्होंने उसे अपने जीवन में भी उतारा था। निग्गण्ठ नायपुत्त[1] (भगवान् महावीर स्वामी) ने गृहस्थावस्था को त्यागकर मुनि अवस्था धारण करने के बाद तो इस सिद्धान्त को पूर्णरूपेण अपने जीवन में आत्मसात् किया ही था, किन्तु जब आप गृहस्थावस्था में

---

१. बौद्ध ग्रंथों में श्रमण भगवान् महावीर का "निग्गण्ठ नाथपुत्त" के नाम से उल्लेख हुआ है किन्तु जैनागमों में "निग्गण्ठ नायपुत्त" नाम आता है। हम ने इस निबन्ध में जैन आगमों के अनुसार सर्वत्र "निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्त" लिखा है।

थे तभी से आपने सचित्त पदार्थों का सेवन करना छोड़ दिया था। यह बात जैनागमों के अभ्यासी से छिपी नहीं है।

जैन धर्मनिष्ठ गृहस्थ, जिन्हें श्रावक अथवा श्रमणोपासक कहते हैं, वे भी मांस खाने से स र्था परहेज करते हैं। मात्र इतना ही नहीं परन्तु रात्रिभोजन का सेवन भी सी लिये नहीं करते कि इस भोजन के साथ त्रस जीवों का पेट में चले जाना संभव है। इस लिये मांसाहार का दोष भी लग सकता है। जब कोई भी व्यक्ति जैन धर्म स्वीकार करता है तब उसे श्रावक के बारह व्रतों में से सर्वप्रथम "स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत" ग्रहण करना पड़ता है, जिसका प्रयोजन यही है कि त्रस (हलन-चलन की क्षमता वाले) जीवों की हिंसा का त्याग और स्थावर (स्थिर) जीवों की हिंसा की यतना। मांस त्रस जीवों को मारने से बनता है, जब श्रावक के लिये त्रस जीवों की हिंसा का त्याग है तब वह मांस को कैसे ग्रहण कर सकता है? आज भी जैन गृहस्थ, जिन्हें कि जैन धर्म पर श्रद्धा है, वे कदापि मांस भक्षण नहीं करते। इस कारण से आज भी यह बात जगत्प्रसिद्ध है कि *यदि कोई व्यक्ति मांसभक्षण तथा रात्रिभोजन न करता हो तो लोग उसे* तुरन्त कह देते हैं—"यह व्यक्ति जैनधर्मानुयायी है।"

यह तो हुई भगवान् महावीर, निर्ग्रंथ मुनि तथा जैन गृहस्थों की बात। परन्तु आप यह जान कर आश्चर्यचकित होंगे कि जो जातियां किसी समय में जैन धर्म का पालन करती थीं किन्तु अनेक शताब्दियों से जैन श्रमणों का उनके प्रदेशों में आवागमन न होने से वे अन्य धर्मावलम्बियों के प्रचारकों के प्रभाव से जैन धर्म को भूल कर अन्य धर्म-सम्प्रदायों की अनुयायी बन चुकी हैं और उन्हें इस बात का ज्ञान है कि उनके पूर्वज जैन धर्मानुयायी थे वे आज तक भी मांस भक्षण तथा रात्रिभोजन और अभक्ष्य वस्तुओं का भक्षण नहीं करतीं। जिनमें से यहां एक ऐसी जाति का परिचय दे देने से हमारी इस धारणा को पुष्टि मिलेगी।

बंगाल देश में, जहां आज भी मांस-मत्स्यादिभक्षण का खूब प्रचार है वहां सर्वत्र लाखों की संख्या में एक ऐसी मानव जाति पायी जाती है

जो "सराक" के नाम से प्रसिद्ध है। सराक शब्द "सरावक-श्रावक" का अपभ्रंश होकर बना है। ये लोग कृषि, कपड़ा बुनने तथा दुकानदारी आदि का व्यवसाय करते हैं। ये लोग उन प्राचीन जैन श्रावकों[१] के वंशज हैं जो जैन जाति के अवशेष रूप हैं। यह जाति आज प्रायः हिन्दू धर्म की अनुयायी हो गई है। कहीं-कहीं अभी तक ये लोग अपने आपको जैन समझते हैं। इस जाति के विषय में अनेक पाश्चात्य तथा पौर्वात्य विद्वानों ने उल्लेख किया है। जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

१. मि० गेट अपनी सेंसर्स रिपोर्ट में लिखते हैं कि :—

इस बंगाल देश में एक खास तरह के लोग रहते हैं। जिनको 'सराक' कहते हैं। इनकी संख्या बहुत है। "ये लोग मूल से जैन थे", तथा इन्हीं की दंतकथाओं एवं इनके पड़ौसी भूमिजों की दंतकथाओं से मालूम होता है कि—ये एक ऐसी जाति की सन्तान हैं जो भूमिजों के आने के समय से भी पहले बहुत प्राचीन काल से यहाँ बसी हुई है। इनके बड़ों ने पार, छर्रा, बोरा और भूमिजों आदि जातियों के पहले अनेक स्थानों पर मंदिर बनवाये थे। यह अब भी सदा से ही एक शान्तिमयी जाति है जो भूमिजों के साथ बहुत मेल-जोल से रहती है। कर्नल डेलटन के मतानुसार ये जैन हैं और ईसा पूर्व छठी शताब्दी (Sixth Century B. C.) से ये लोग यहाँ आबाद हैं।

यह शब्द "सराक" निःसन्देह "श्रावक" से ही निकला है, जिस का अर्थ संस्कृत में 'सुनने वाला' होता है। जैनों में यह शब्द गृहस्थों के लिये आता है जो लौकिक व्यवसाय करते हैं और जो यति या साधु से भिन्न हैं।

(मि० गेट सेंसर्स रिपोर्ट)

---

१. जैनागमों में श्रावक शब्द गृहस्थ व्रतधारी जैनों के लिये आया है, परन्तु बौद्धों ने श्रावक शब्द बौद्ध भिक्षुओं के लिये प्रयोग किया है। 'सराक' जो कि श्रावक शब्द का अपभ्रंश है वह गृहस्थों की जाति के लिये प्रसिद्ध है। इसलिये यह जाति जैन गृहस्थ-श्रमणोपासकों का अवशेष रूप है इसमें सन्देह नहीं है।

२. मि० सरसली कहते हैं कि—

यद्यपि मानभूम के 'सराक' अब हिन्दू हैं परन्तु वे अपने को प्राचीन काल में जैन होने की बात को जानते हैं। वे पक्के शाकाहारी हैं, मात्र इतना ही नहीं परन्तु 'काटने' के शब्द को भी वे व्यवहार में नहीं लाते।

३. मि० एचकूप लैंड का मत है कि—

'सराक' लोग हिंसा से घृणा करते हैं। दिनको खाना अच्छा समझते हैं। सूर्योदय बिना भोजन नहीं करते। गूलर आदि कीड़े वाले फलों को भी नहीं खाते। श्री पार्श्वनाथ (जैनों के तेईसवें तीर्थंकर) को पूजते हैं और उन्हें अपना कुलदेवता मानते हैं। इनके गृहस्थाचार्य भी सराकों की तरह कदापि रात्रिभोजनादि नहीं करते। इनमें एक कहावत भी प्रसिद्ध है—

"डोह डूमर (गूलर) पोढ़ो छाती ए चार नहीं खाये सराक जाति।"-[१]

४. A. S. B. 1868 N/85 में लिखा है कि :—

They are represented as having great scruples against taking life. They must not eat till they have seen the sun (before sunrise) and they venerate Parashvanath.

अर्थात्—वे (सराक) ऐसे लोगों के अनुयायी हैं जो जीवहत्या रूप हिंसा से अत्यन्त घृणा करते हैं और वे सूर्योदय होने से पहले कदापि नही खाते तथा वे श्री पार्श्वनाथ के पूजक हैं।

५. मि० बेगलर व कर्नल डेलटन का मत है कि :—

ब्राह्मणों व उनके मानने वालों ने ईसा की सातवीं शताब्दी के बाद उन श्रावकों को अपने प्रभाव से दबा लिया। जो कुछ बचे और उनके धर्म में नहीं गये वे इन स्थानों से दूर जाकर रहे।

---

१. इन सब बातों का खुलासा श्रावक के सातवें "भोगोपभोग-परिमाण व्रत" में अगले स्तम्भ में करेंगे। और बतलायेंगे कि व्रतधारी जैन श्रावक के लिये इन नियमों का पालन अनिवार्य होता है।

(६) यह बात बड़े गौरव की है कि जिस जाति को जैन धर्म भूले हुए आज तेरह सौ वर्ष हो गये हैं उनके वंशज आज तक बंगाल जैसे मांसाहारी देश में रहते हुए भी कट्टर निरामिषाहारी हैं। इस जाति में मत्स्य तथा मांस का व्यवहार सर्वथा वर्ज्य है। यहाँ तक कि बालक भी मत्स्य या मास नहीं खाते। मांसाहारी और हिंसकों के मध्य में रहते हुए भी ये लोग पूर्ण अहिंसक तथा निरामिषभोजी हे।

७. कर्नल डेलटन का मत है कि:—

इस जाति को यह अभिमान है कि इस में कोई भी व्यक्ति किसी फ़ौजदारी अपराध में दंडित नहीं हुआ। और अब भी संभव है कि इन्हे यही अभिमान है कि इस ब्रिटिश राज्य मे भी किसी को अब तक कोई फ़ौजदारी अपराध पर दंड नही मिला। ये वास्तव मे शांत और नियम से चलने वाले हैं। अपने आप और पड़ौसियो के साथ शाँति से रहते हैं। ये लोग बहुत प्रतिष्ठित तथा बुद्धिमान मालूम होते हैं।

(८) अनेकों जैन मन्दिर और जैन तीर्थंकरों, गणधरो, निर्ग्रंथों, श्रावक, श्राविकाओं की मूत्तियाँ आज भी इस देश में सर्वत्र इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं, जो कि "सराक" लोगों के द्वारा निर्मित तथा प्रतिष्ठित कराई गयी हैं। (A. S. B. 1868)

सारांश यह है कि हज़ारों वर्षों से अपने मूल धर्म (जैन धर्म) को भूल जाने पर भी और अन्य मांसाहारी धर्म-संप्रदायों में मिल जाने के बाद भी इन सराकों में जैन धर्म के आचार सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ आज भी विद्यमान हैं।

इस सारे विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि जैन धर्म निर्यामक निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरों ने अहिंसा का ऐसा अलौकिक आदर्श स्वयं अपने आचरण में लाकर विश्व के लोगों को इस पर चलने का आदेश दिया, जिसके परिणाम स्वरूप जिन्होंने उन के धर्म को स्वीकार किया ऐसा जैन संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका)

आज के गन्दे और दूषित वातावरण (जिसमें मांस-मत्स्य तथा मदिरा जैसी घृणित वस्तुओं का विश्वव्यापी प्रचार हो रहा है) में भी अक्षुण्ण रूप से निरामिषाहारी है। मात्र इतना ही नहीं परन्तु जैन तीर्थंकरों की अहिंसा की लोगों पर उस समय इतनी गहरी छाप पड़ी थी कि जो सराकादि जातियाँ हजारों वर्षोंसे जैन धर्म को भूल चुकी हैं वे भी आजतक कट्टर निरामिषभोजी रही हैं। श्रमण भगवान् महावीर की अहिंसा ने उस समयकी सर्वसाधारण जनता पर इतना जबर्दस्त प्रभाव डाला कि उस समय के बौद्ध आदि प्राण्यंग मत्स्य-मांसादि भक्षक संप्रदायों को भी अप सैद्धान्तिक रूप से, इच्छा से नहीं तो दबाव से अथवा लोकनिन्दा के भय से ही अहिंसा के सिद्धान्त को किसी न किसी रूप से अपनाना पड़ा। इस लिये यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि "अहिंसा शब्द का प्रधान सम्बन्ध जैनों के साथ ही है।"

भारतगौरव स्वर्गवासी लोकमान्य तिलक ने तो स्पष्ट रूप से यह बात स्वीकार की है कि—"जैन धर्म की अहिंसा ने वैदिक-ब्राह्मण धर्म पर गहरी छाप डाली है। जब भगवान् महावीर जैन धर्म को पुनः प्रकाश में लाये तब अहिंसा धर्म खूब ही व्यापक हुआ। आज कल यज्ञों में जो पशु-हिंसा नहीं होती—ब्राह्मण और हिन्दू धर्म में मांस भक्षण और मदिरा-पान बन्द हो गया है वह भी जैन धर्म का ही प्रताप है।"

अहिंसा तो जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है, प्राण है और इसका पहला पाठ मांसाहार निषेध से ही प्रारंभ होता है। जैनधर्म की मान्यता है कि चाहे भगवान् महावीर हो या बुद्ध अथवा कोई भी महान् व्यक्ति क्यों न हो यदि वह मांसाहार करता है तो वह भगवान् पद का अधिकारी कभी नहीं हो सकता। मांसाहारी न तो स्व स्वरूप को समझ सकता है और न ही शुद्ध और सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है, इसलिये यह अनन्त सुख का मार्ग भी नहीं खोज सकता और न ही वह उच्चतम चारित्र का पालन कर सकता है। और उच्चतम

चारित्र के अभाव में सर्व कर्मजन्य उपाधि से मुक्ति रूप निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति कदापि नहीं कर सकता।

जैन श्रमणोपासकों (गृहस्थों), जैन धर्म के प्रचारक निर्ग्रंथों (साधुओं) तथा जैनधर्मनिर्यामक तीर्थंकरों का आचार कितना पवित्र था और है इस का संक्षिप्त विवेचन करना इस लिये यहाँ आवश्यक है कि आप देखेंगे—ऐसे चरित्र वाला कोई भी व्यक्ति प्राण्यंग मत्स्य-मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का कदापि भक्षण नहीं कर सकता।

जैन गृहस्थों (श्रावक-श्राविकाओं) का आचार

जैन गृहस्थों में पुरुष को श्रावक तथा स्त्री को श्राविका कहते हैं।

(क) गृहस्थ धर्म की पूर्व भूमिका

संघविभाजन—तीर्थंकर भगवान् ने जब धर्मशासन की स्थापना की तो स्वाभाविक ही था कि उसे स्थायी और व्यापक रूप देने के लिये वे संघ की स्थापना करते। क्योंकि संघ के बिना धर्म ठहर नहीं सकता।

जैन संघ चार श्रेणियों में विभक्त है—

१. साधु, २. साध्वी, ३. श्रावक, ४. श्राविका।

इसमें साधु-साध्वी का आचार लगभग एक जैसा है और श्रावक-श्राविका का आचार एकसा है।

मुनि (साधु-साध्वी) के आचार का उल्लेख आगे करेंगे। यहाँ पर श्रावक-श्राविका के आचार का वर्णन करते हैं, क्योंकि श्रावक-श्राविका का भी जैन शासन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रावक का आचार मुनिधर्म के लिये नींव के समान है। इसी के ऊपर मुनि के आचार का भव्य प्रासाद निर्मित हुआ है।

श्रावक पद का अधिकारी—

जैन धर्म में जैन मुनियों के लिये आवश्यक आचार-प्रणालिका निश्चित है और उस आचार का पालन करनेवाला साधक ही मुनि कहलाता है। उसी प्रकार श्रावक होने के लिये भी कुछ आवश्यक शर्तें हैं। प्रत्येक गृहस्थ मात्र श्रावक नहीं कहला सकता, बल्कि विशिष्ट व्रतों को अङ्गीकार करने वाला गृहस्थ पुरुष व स्त्री ही श्रावक-श्राविका कहलाने के अधिकारी हैं।

जैन परम्परा के अनुसार श्रावक-श्राविका बनने की योग्यता प्राप्त करने के लिये निम्नलिखित सात दुर्व्यसनों का त्याग करना आवश्यक है :—

१. जुआ खेलना, २. मांसाहार, ३. मदिरापान, ४. वेश्यागमन, ५. शिकार, ६. चोरी, ७. परस्त्रीगमन अथवा परपुरुषगमन। ये सात दुर्व्यसन[1] हैं।

ये सातों ही दुर्व्यसन जीवन को अधःपतन की ओर ले जाते हैं।[2] इनमें से किसी भी एक व्यसन में फंसा हुआ अभागा मनुष्य प्रायः सभी व्यसनों का शिकार बन जाता है।

इन सात व्यसनों में से नियम पूर्वक किसी भी व्यसन का सेवन न करने वाले ही श्रावक-श्राविका बनने के पात्र होते हैं।

(ख) श्रावक बनने के लिये:—

उपर्युक्त सात व्यसनों के त्याग के अतिरिक्त गृहस्थ में अन्य गुण भी होने चाहिये। जैन परिभाषा मे उन्हें मार्गानुसारी गुण कहते हैं। इन गुणों में से कुछ ये हैं:—

नीति पूर्वक धनोपार्जन करे, शिष्टाचार का प्रशंसक हो, गुणवान् पुरुषों का आदर करे, मधुरभाषी हो, लज्जाशील हो, शीलवान हो, माता-पिता का भक्त एवं सेवक हो, धर्मविरुद्ध, देशविरुद्ध—एवं कुलविरुद्ध कार्य न करने वाला हो, आय से अधिक व्यय न करनेवाला हो, प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनने वाला हो, देव-गु (जिनेन्द्र प्रभु तथा निर्ग्रंथ गु) की भक्ति करने वाला हो, नियत समय पर परिमित सात्त्विक भोजन करने वाला, अतिथि-दीन-हीन जनों का ए साधु-संतों का यथोचित सत्कार करने

---

१. मज्जपसंगी, चोज्जपसंगी, मंसपसंगी, जूयपसंगी, वेसापसंगी, परदारपसंगी। (ज्ञातासूत्र अ० १८ सू० १३७)

जल-थल-खगचारिणो य पंचिंदिए पसुगणे बिय-तिय-चउरिंदिए य विविहजीवे पियजीविए मरणदुक्खपडिकूले वराए हणंति।

(प्रश्नव्याकरण प्रथम अ०)

२. विपाकसूत्र—दुःखविपाक (सप्त दुर्व्यसनों का फल)

वाला, गुणों का पक्षपाती, अपने आश्रित जनों का पालन-पोषण करने वाला, आगा-पीछा सोचने वाला, सौम्य, परोपकारपरायण, काम-क्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं को दमन करने में उद्यत और इन्द्रियों पर काबू रखने वाला हो। इत्यादि गुणों से युक्त गृहस्थ ही श्रावकधर्म का अधिकारी है।

एवं प्रत्येक तत्त्व के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानने की अभिरुचि से तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप को जानते हुए सत् श्रद्धान वाला गृहस्थ ही श्रावकधर्म का अधिकारी है।[1]

(ग) श्रावकधर्म

जैन शास्त्र का विधान है—"**चारित्तं धम्मो**।" अर्थात् चारित्र ही धर्म है।" चारित्र क्या है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है—

"असुहाओ विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।"

अर्थात्—अशुभ कर्मों से निवृत्त होना तथा शुभ कर्मों में प्रवृत्त होना चारित्र कहलाता है। वस्तुतः सम्यकचारित्र या सदाचार ही मनुष्य की विशेषता है। सदाचारहीन जीवन गन्धहीन पुष्प के समान है।

गृहस्थ वर्ग के लिए बतलाये गये बारह व्रतों में से मात्र पहला अहिंसाणु-व्रत, सातवाँ भोगोपभोगपरिमाण व्रत तथा आठवाँ अनर्थदंडत्याग व्रत—इन तीन व्रतों का ही यहाँ संक्षेप से उल्लेख किया जाता है। क्योंकि इस निबन्ध का उद्देश्य मासाहार आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण का परिहार है, जिस का समावेश इन तीनों व्रतों में होता है। अतः विस्तार भय से बारह व्रतो के स्वरूप का उल्लेख करना उचित नही समझा गया।

श्रावक-श्राविकाओं के बारह व्रतों के नाम

पाँच अणुव्रत—१. स्थूल प्राणातिपातविरमण अहिंसा अणुव्रत,

---

१. सति सम्यग्दर्शे न्याय्यमणुव्रतादीनां ग्रहणं, नान्यथेति।
(आचार्य हरिभद्रकृत धर्मबिन्दु प्र० ३)

२. सत्याणुव्रत, ३. अचौर्याणुव्रत, ४. ब्रह्मचर्याणुव्रत, ५. परिग्रह-परिमाण अणुव्रत ।

तीन गुणव्रत—६. दिग्व्रत, ७. भोगोपभोगपरिमाण व्रत, ८. अनर्थदण्डत्याग व्रत ।

चार शिक्षाव्रत—९. सामायिक व्रत, १०. देशावकाशिक व्रत, ११. पौषधोपवास व्रत, १२. अतिथिसंविभाग व्रत ।

(घ) श्रावक-श्राविका का अहिंसाणुव्रत

पहला व्रत "स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत" **अर्थात्**—जीवों की हिंसा से विरत होना । संसार में दो प्रकार के जीव हैं, स्थावर और त्रस । जो जीव अपनी इच्छानुसार स्थान बदलने में असमर्थ हैं वे स्थावर कहलाते हैं । पृथ्वीकाय, अप्काय (पानी), अग्निकाय, वायुकाय तथा वनस्पतिकाय—ये पाँच प्रकार के स्थावर जीव है । इन जीवों के सिर्फ़ स्पर्शेन्द्रिय होती है । अतएव इन्हें एकेन्द्रिय जीव भी कहते हैं।

दुःख-सुख के प्रसंग पर जो जीव अपनी इच्छा के अनुसार एक जगह से दूसरी जगह पर आते-जाते हैं, जो चलते-फिरते और बोलते हैं, वे त्रस हैं । इन त्रस जीवों मे कोई दो इन्द्रियों वाले, कोई तीन इन्द्रियों वाले, कोई चार इन्द्रियों वाले, कोई पाँच इन्द्रियों वाले होते हैं । संसार के समस्त जीव त्रस और स्थावर विभागों मे समाविष्ट हो जाते हैं ।

मुनि दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं । परन्तु गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकते, अतएव उनके लिए स्थूल हिंसा के त्याग का विधान किया गया है । निरपराध त्रस जीवों की संकल्प पूर्वक की जाने वाली हिंसा को ही गृहस्थ त्यागता है ।

जैन शास्त्रों में हिंसा चार प्रकार की बतलाई गयी है—[1]

१. आरम्भी हिंसा, २. उद्योगी हिंसा, ३. विरोधी हिंसा, ४. संकल्पी हिंसा ।

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र आश्रवद्वार

१. जीवननिर्वाह के लिये, आवश्यक भोजन-पान के लिये, और परिवार के पालन-पोषण के लिये अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा आरम्भी हिंसा है।

२. गृहस्थ अपनी आजीविका चलाने के लिये कृषि, गोपालन, व्यापार आदि उद्योग करता है और उन उद्योगों में हिंसा की भावना न होने पर भी हिंसा होती है, वह उद्योगी हिंसा कहलाती है।

३. अपने प्राणों की रक्षा के लिये, कुटुम्ब-परिवार की रक्षा के लिये अथवा आक्रमणकारी शत्रुओं से देशादि की रक्षा के लिये की जाने वाली हिंसा विरोधी हिंसा है।

४. किसी निरपराधी प्राणी की जान बूझ कर मारने की भावना से हिंसा करना संकल्पी हिंसा है।

इस चार प्रकार की हिंसा से गृहस्थ पहले व्रत में संकल्पी हिंसा का त्याग करता है और शेष तीन प्रकार की हिंसा में से यथाशक्ति त्याग करके अहिंसा व्रत का पालन करता है।

१. अहिंसा व्रत का शुद्ध रूप से पालन करने के लिये इन पाँच दोषों से बचना चाहिये :—[1]

१. किसी जीव को मारना-पीटना-त्रास देना।

२. किसी का अंग-भंग करना, किसी को अपंग बनाना, विरूप करना।

३. किसी को बन्धन में डालना, यथा तोते-मैना आदि पक्षियों को पिंजरे में बन्द करना, कुत्ते आदि को रस्सी से बाँध रखना। ऐसा करने से उन प्राणियों की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है और उन्हे व्यथा पहुंचती है।

४. घोड़े, बैल, खच्चर, ऊँट, गधे आदि जानवरों पर उनके सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना, नौकरों से अधिक काम लेना।

५. अपने आश्रित प्राणियों को समय पर भोजन-पानी न देना।

इन उपर्युक्त समस्त दोषों का त्याग "अहिंसाणुव्रत" की भावना में आवश्यक है।

---

१. उपासकदशांग सूत्र अ० १।

(छ) सातवां भोगोपभोगपरिमाण व्रत—

एक बार भोगने योग्य आहार आदि भोग कहलाते हैं। जिन्हें पुनः पुनः भोगा जा सके, ऐसे वस्त्र, पात्र, मकान आदि उपभोग कहलाते हैं।[1] इन पदार्थों को काम में लाने की मर्यादा बांध लेना "भोगोपभोगपरिमाण व्रत" है। यह व्रत भोजन और कर्म (व्यवसाय) से दो भागों में विभक्त किया गया है। भक्ष्य (मानव के खाने-पीने योग्य) भोजन पदार्थों की मर्यादा करने और अभक्ष्य (मानव के न खाने-पीने योग्य) पदार्थों का त्याग करने का इस व्रत के पहले भाग में विधान है। भोजन (भक्ष्य) पदार्थों की मर्यादा करने से लोलुपता पर विजय प्राप्त होती है तथा अभक्ष्य पदार्थों (मांस, मदिरा आदि) के त्याग से लोलुपता के त्याग के साथ हिंसा का त्याग भी हो जाता है। दूसरे भाग में व्यापार संबन्धी मर्यादा कर लेने से पाप-पूर्ण व्यापारों का त्याग हो जाता है।

इस व्रत को अङ्गीकार करने वाला साधक मदिरा, मांस, शहद, तथा दो घड़ी (४८ मिनट) छाछ में से निकालने के बाद का मक्खन (क्योंकि दो घड़ी के बाद मक्खन मे त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं), पाँच उदुम्बर फल (बड़-पीपल-पिलंखण-कठुमर-गूलर के फल), रात्रिभोजन इत्यादि का त्याग करता है। क्योंकि इन सब में त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है इस लिये इनके भक्षण से मासाहार का दोष लगता है, जो कि श्रावक के लिये सर्वथा वर्जित है।[2] सारांश यह है कि ऐसे सब प्रकार के पदार्थ, जिनके

---

१. सकृदेव भुज्यते यः स भोगोऽन्नस्रगादिकः।
पुनः पुन. पुनर्भोग्य उपभोगोऽङ्गनादिकः॥
(योगशास्त्र प्र० ३ श्लो० ५)।

२. मद्यं मांसं नवनीतं मधूदुम्बरपंचकम्।
अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम्॥ ६॥
आम गोरस सम्पृक्तं द्विदलं पुष्पितौदनम्।
दध्यहर्द्वितयातीतं कुथितान्नं च वर्जयेत्॥ ७॥
(आ० हेमचन्द्रकृत योग शास्त्र प्र० ३)।

भक्षण से आमिषाहार की संभावना हो अथवा बुद्धि में विकार आवे, श्रावक के लिये वर्जित हैं।"[1] ऐसे व्यापार जिन में त्रस जीवों की हिंसा विशेष रूप से संभव हो, श्रावक के लिये वर्जित है। जैसे—वृक्षों को काट-काट कर कोयला बनाना, ठेका ले कर जंगल को उजाड़ना, हाथी-दांत आदि का व्यापार करना, मदिरा जैसी मादक वस्तुओं का विक्रय करना, प्राणघातक विष बेचना, और दुराचारिणी स्त्रियों से दुराचार करवा कर द्रव्योपार्जन करना, आदि निंद्य व्यापारों का भी श्रावक त्याग कर देता है।

(च) आठवां अनर्थदंडविरमण व्रत—

अनर्थदण्डत्याग—बिना प्रयोजन हिंसादि करना अनर्थदण्ड कहलाता है। इसका भी श्रावक को त्याग करना चाहिये।

---

१. **(क) मदिरा के दोष—**

विवेकः संयमो ज्ञानं सत्यं शौचं दया क्षमा।
मद्यात्प्रलीयते सर्वं तृण्या वह्निकणादिव ॥ १६ ॥
दोषाणां कारणं मद्यं, मद्यं कारणमापदाम्।
रोगातुर इवापथ्यं तस्मान्मद्यं विवर्जयेत् ॥ १७ ॥

(ख) मांस के दोष—

चिखादिषति यो मांसं प्राणिप्राणापहारतः।
उन्मलयत्यसौ मूल दयाख्यं धर्मशाखिनः ॥ १८ ॥
अशनीयन् सदा मासं दयां यो हि चिकीर्षति।
ज्वलति ज्वलने वल्ली, स रोपयितुमिच्छति ॥ १९ ॥
सद्यःसंमूर्छितानतजंतुसंतानदूषितम्।
नरकाध्वनि पाथेयं, कोऽश्नीयात् पिशितं सुधीः ? ॥३३॥

(ग) नवनीत (मक्खन) के दोष—

अंतर्मुहूर्त्तात्परतः सुसूक्ष्मा जंतुराशयः।
यत्र मूर्छन्ति तन्नाद्यं, नवनीतं विवेकिभिः ॥ ३४ ॥

(घ) मधु (शहद) के दोष—

अनेकजन्तुसंघात-निघातनसमुद्भवम्।
जुगुप्सनीयं लालावत् कः स्वादयति माक्षिकम् ? ॥३६॥

विवेकशून्य मनुष्यों की मनोवृत्ति चार प्रकार के व्यर्थ पाप को उपार्जन करती है—

१. अपध्यान—दूसरों का बुरा विचारना।

२. प्रमादाचरित—जाति कुल आदि का मद करना तथा विकथा, निन्दा आदि करना।

३. हिंस्रप्रदान—हिंसा के साधन—तलवार, बन्दूक, तोपें, बम आदि का निर्माण करके दूसरों को देना, संहारक शस्त्रों का आविष्कार करना।

४. पापोपदेश—पापजनक कार्यों का उपदेश देना।

इस व्रत को अङ्गीकार करनेवाला साधक कामवासनावर्धक वार्तालाप नही करता। कामोत्तेजक कुचेष्टाएँ नहीं करता। असभ्य फूहड़ वचनों का प्रयोग नही करता। हिंसाजनक शस्त्रों का निर्माण नहीं करता, इनके आविष्कार व विक्रय मे भाग नही लेता और भोगोपभोग के योग्य पदार्थों मे अधिक आसक्त नही होता।

इस प्रकार श्रावक-श्राविकाएँ हिंसा-सामिषाहार आदि दोषों से बचने के लिये उपर्युक्त व्रतों का सावधानी से पालन करते हुए सदा जागरूक

(ङ) **पाँच उदुंबर फलों के दोष—**
उदबर-वट-प्लक्ष-काकोदुबर-शाखिनाम्।
पिप्पलस्य च नाश्नीयात्फलं कृमिकुलाकुलम्॥ ४२॥

(च) **रात्रिभोजन के दोष—**
घोराधकाररुद्धाक्षैः पतन्तो यत्र जन्तवः।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते तत्र भुजीत को निशि ?॥ ४९॥

(छ) **गोरस कच्चे से मिश्रित द्विदल के दोष—**
आमगोरससपृक्तद्विदलादिषु जन्तवः।
दृष्टाः केवलिभिः सूक्ष्मास्तस्मात्तानि विवर्जयेत्॥ ७१॥

(ज) **जन्तु मिश्रित पुष्प-फल में दोष—**
जन्तुमिश्रं फलं पुष्पं पत्रं चान्यदपि त्यजेत्।
संधानमपि संसक्तं जिनधर्मपरायणः॥ ७२॥
(आचार्य हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र प्रकाश ३)।

रहते रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि जैन धर्मानुयायी श्रमणोपासक गृहस्थ न तो मांस खरीद कर ला सकते हैं, न पका सकते हैं, न खा सकते हैं और न ही अपने हाथों से पंचेन्द्रियादि जीवों का वध करके मांस बना सकते हैं।

हम पहले स्तम्भ में "सराक जाति" का परिचय दे आये हैं, जिस में उनका खान-पान-आचार सम्बन्धी संक्षिप्त विवरण (नं० ३) लिखा है। उससे यह स्पष्ट है कि उन लोगों का आचार और विचार भी श्रावक के इन उपर्युक्त व्रतों के सर्वथा अनुकूल चला आ रहा है। अतः स्पष्ट है कि जैन संघ में सामिषाहार का प्रचलन प्राचीन काल से लेकर आज पर्यंत कदापि संभव नहीं है।

निर्ग्रन्थ श्रमण [जैन साधु-साध्वी] का आचार

जैनागमों में त्यागमय जीवन अङ्गीकार करने वाले व्यक्ति की योग्यता का विस्तृत वर्णन किया है। आयु का कोई प्रतिबन्ध न होने पर भी जिसे शुभ तत्त्व-दृष्टि प्राप्त हो चुकी है, जिसने आत्मा-अनात्मा के स्वरूप को समझ लिया है, जो भोग-रोग और इन्द्रियों के विषयों को विष समझ चुका है तथा जिसके मानस सर में वैराग्य की ऊर्मियाँ लहराने लगी हैं वही त्यागी निर्ग्रंथ बनने के योग्य है। पूर्ण विरक्त होकर शरीर सम्बन्धी ममत्व का भी त्याग करके जो आत्म-आराधना मे सलग्न रहना चाहता है वह जैन मुनिधर्म अर्थात् जैन दीक्षा ग्रहण करता है।

उसे घर-बार, धन-दौलत, स्त्री-परिवार, माता-पिता, खेत-जमीन आदि पदार्थों का त्याग करना पडता है। सच्चा श्रमण वही है जो अपने आन्तरिक विकारों पर विजय प्राप्त कर सकता है। वह अपनी पीड़ा को वरदान मान कर तटस्थ भाव से सहन कर जाता है, मगर पर-पीड़ा उसके लिये असह्य होती है। जैन साधु वह नौका है जो स्वयं तरती है तथा दूसरों को भी तारती है।

भगवान् महावीर कहते हैं—साधुओ ! श्रमण निर्ग्रंथों के लिये लाघव-कम-से-कम साधनों से निर्वाह करना, निरीहता–निष्काम वृत्ति, अमूर्छा–अनासक्ति, अगृद्धि, अप्रतिबद्धता, शान्ति, नम्रता, सरलता निर्लोभता ही प्रशस्त है।

जैन भिक्षु के लिये पाँच महाव्रत अनिवार्य हैं। उन्हें रात्रिभोजन का भी सर्वथा त्याग होता है। इन महाव्रतों का भलीभांति पालन किये बिना कोई साधु नहीं कहला सकता। महाव्रत इस प्रकार हैं :—

"पाणिवह-मुसावाया-अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ ।
राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो ।"

१. अहिंसा महाव्रत—जीवन पर्यन्त त्रस (हलन-चलन की सामर्थ्य वाले) और स्थावर (एक स्थान पर स्थिर रहने वाले) सभी जीवों की मन, वचन, काया से हिंसा न करना, दूसरों से न कराना, और हिंसा करने वाले को अनुमोदन न देना—अहिंसा महाव्रत है ।

साधु प्राणिमात्र पर करुणा की दृष्टि रखता है। अतएव वह निर्जीव हुए अचित्त जल का ही सेवन करता है । अग्निकाय के जीवों की हिंसा से बचने के लिये अग्नि का उपयोग नहीं करता । पंखा आदि हिला कर वायु की उदीरणा नहीं करता । पृथ्वीकाय के जीवों की रक्षा के लिये जमीन खोदने आदि की क्रियाएँ नही करता । वह अचित्त-जीवरहित आहार को ही ग्रहण करता है। मांसाहार सर्वदा सजीव होने से उसका सर्वथा त्यागी होता है। महाव्रतधारी जैन साधु स्थावर और चलते-फिरते त्रस जीवों की हिंसा का पूर्ण त्यागी होता है ।

जैन मुनि रात्रि भोजन का भी त्यागी होता है, क्योंकि रात्रि-भोजन में आसक्ति और राग की तीव्रता होती है तथा जीव-जन्तु आदि के गिर जाने से हिंसा एवं मांसाहार दोष का लगना भी संभव है ।

श्रमण भगवान् महावीर फरमाते हैं किः—

सूर्य के उदय से पहले तथा सूर्य के अस्त हो जाने के बाद निर्ग्रंथ मुनि को सभी प्रकार के भोजन-पान आदि की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि संसार में बहुत से त्रस जीव (चलने-फिरने, उड़ने वाले) और स्थावर (एक स्थान पर रहने वाले) प्राणी बड़े ही सूक्ष्म होते हैं । वे रात्रि में देखे नहीं जा सकते, तो रात्रि में भोजन कैसे किया जा सकता है ?

जमीन पर कहीं पानी पड़ा होता है, कहीं बीज बिखरे होते | हैं और कहीं पर सूक्ष्म कीड़े-मकौड़े आदि जीव होते हैं । दिन में उन्हें देख भाल कर बचाया जा सकता है, परन्तु रात्रि को उन्हें बचाकर भोजन करना

संभव नहीं है। रात्रि को भोजन आदि में त्रस जीवों का पड़ जाना प्रायः संभव होने से हिंसा एवं मांसाहार के दोष से प्रायः बचा नहीं जा सकता। इस प्रकार सब दोषों को देखकर ही ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने कहा है कि "निर्ग्रंथ मुनि रात्रि को किसी भी प्रकार से भोजन न करे।"

अन्नादि चारों ही प्रकार के आहार (१. अशन—वह खुराक जिससे भूख मिटे, २. पान—वह आहार जिससे प्यास आदि मिटे, ३. खाद्य—वह आहार जिससे थोड़ी तृप्ति हो, जैसे फलादि, ४. स्वाद्य—इलायची सुपारी आदि) का रात्रि मे सेवन नहीं करना चाहिये। इतना ही नहीं दूसरे दिन के लिये भी रात्रि में खाद्य सामग्री का संग्रह करना निषिद्ध है। अतः अहिंसा महाव्रत धारी श्रमण रात्रिभोजन का सर्वथा त्यागी होता है।

२. सत्य महाव्रत—मन मे सत्य सोचना, वाणी से सत्य बोलना, और काय से सत्य का आचरण करना तथा सूक्ष्म असत्य का भी प्रयोग न करना, सत्य महाव्रत है।

जैन साधु मन-वचन तथा काया से कदापि असत्य का सेवन नहीं करता। उसे मौन रहना प्रियतर प्रतीत होता है, फिर भी प्रयोजन होने पर परिमित, हितकर, मधुर और निर्दोष भाषा का ही प्रयोग करता है। वह बिना सोचे विचारे नहीं बोलता। हिंसा को उत्तेजन देने वाला वचन मुख से नहीं निकालता। हँसी, मजाक आदि बातो से, जिनके कारण असत्य भाषण की संभावना रहती है, उससे दूर रहता है।

३. अचौर्य महाव्रत—मुनि संसार की कोई भी वस्तु, उसके स्वामी की आज्ञा के बिना ग्रहण नहीं करता, चाहे वह शिष्यादि हो, चाहे निर्जीव घासादि हो। दाँत साफ़ करने के लिये तिनका जैसी तुच्छ वस्तु भी मालिक की आज्ञा बिना नहीं लेता।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत—जैन मुनि काम वृत्ति और वासना का नियमन करके पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है। इस दुर्धर महाव्रत का पालन करने के लिये अनेक नियमों का कठोरता से पालन करना पड़ता है। उन में से कुछ इस प्रकार हैं:—

(क) जिस मकान में स्त्री, पशु, नपुंसक का निवास हो उसमें न रहना।

(ख) स्त्री के हाव-भाव विलास आदि का वर्णन न करना।

(ग) स्त्री-पुरुष का एक आसन पर न बैठना।

(घ) स्त्री के अंगोपांगों को रागदृष्टि से न देखना।

(ङ) स्त्री-पुरुषों के कामुकता पूर्ण शब्द न सुनना।

(च) अपने गृहस्थावस्था के पूर्व-कालीन भोगमय जीवन को भुला देना और ऐसा अनुभव करना कि शुद्ध साधक के रूप में मेरा नया जन्म हुआ है।

(छ) सरस, पौष्टिक, विकारजनक, राजस और तामस आहार न करना।

(ज) मर्यादा से अधिक आहार नहीं करना। अधिक-से-अधिक बत्तीस छोटे कौर (कवल) भोजन करना।

(झ) स्नान, मंजन, शृंगार आदि करके आकर्षक रूप न बनाना।

५. **अपरिग्रह महाव्रत**—साधु परिग्रह मात्र का त्यागी होता है, फिर भले ही वह घर हो, खेत हो, धन-धान्य हो, या द्विपद-चतुष्पद हो, अथवा अन्य भी कोई पदार्थ हो। वह सदा के लिये मन-वचन-काया से समस्त परिग्रह को छोड़ देता है। पूर्ण असंग, अनासक्त, अपरिग्रही और सब प्रकार के ममत्व से रहित होकर विचरण करता है। साधुधर्म का पालन करने के लिये उसे जिन उपकरणों की अनिवार्य आवश्यकता होती है उनके प्रति भी उसे ममत्व नही होता।

यद्यपि मूर्छा को परिग्रह कहा गया है, तथापि बाह्य पदार्थों के त्याग से अनासक्ति का विकास होता है, अतएव बाह्य पदार्थों का त्याग भी आवश्यक माना गया है।

जैन साधु किसी प्राणी अथवा वाहन की सवारी नहीं करता। वह सदा नंगे पाँव, नंगे सिर सर्वत्र पाद विहार कर घूम-फिरकर सब जीवों को

आत्म-साधक बनाने के प्रयत्न में संलग्न रहता है। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, वर्षा-धूप की भी परवाह न करके वह सतत ध्यान, तप तथा प्राणियों के उपकार के लिये पर्यटक बना रहता है। सब प्रकार के परिषह और उपसर्गों को सहर्ष सहन करते हुए भी अपने जीवनलक्ष्य का त्याग नहीं करता। किसी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्राणी की भी हिंसा उससे न हो जाय इसके लिये वह सदा सावधान रहता है और इस दोष से बचने के लिये वह अपने पास सदा रजोहरण[1] रखता है तथा सचेत कच्चा, पक्का अथवा दोष वाला ऐसा वनस्पति का आहार भी कभी ग्रहण नही करता। वस्तु के निकम्मे भाग को डालने से किसी एकेन्द्रिय जीव की भी हिंसा न हो जाय इसकी पूरी सावधानी रखकर स्थान को देखभाल कर तथा पूज-प्रमार्जन करके डालता है।

इस प्रकार निर्ग्रंथ श्रमण-जैन साधु एकेन्द्रिय से लेकर ंचेन्द्रिय जीव की हिंसा से बचने के लिये सदा जागरूक रहता है।

---

१. एक ऊनादि नरम वस्तु का गुच्छा, जिससे स्थान साफ़ करने पर जीवादि की हिंसा का बचाव होता है।

[४]

भगवान् महावीरस्वामी का त्यागमय जीवन

कुमार वर्धमान-महावीर स्वभाव से ही वैराग्यशील एवं एकान्त-प्रिय थे। उनके माता-पिता तथा सारा परिवार भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। उन्होंने माता-पिता के आग्रह से गृहवास स्वीकार किया। इससे जब वे २८ वर्ष के हुए और उनके माता-पिता का देहांत हो गया तब उनका मन दीक्षा (साधु होने) के लिये उत्कण्ठित हो उठा। परन्तु बड़े भाई नन्दिवर्धन तथा अन्य स्वजन वर्ग के अति आग्रह के कारण उन्होंने दो वर्षों के लिये और घर ठहरना स्वीकार कर लिया। किन्तु उसमें शर्त यह थी कि "आज से मेरे निमित्त कुछ भी आरम्भ-समारम्भ न करना होगा।" अब वर्धमान गृहस्थ वेष में रहते हुए भी त्यागी जीवन बिताने लगे। अपने लिये बने हुए भोजन, पेय तथा अन्य भोग सामग्री का बिलकुल उपयोग (इस्तेमाल) न करते हुए वे साधारण भोजनादि से अपना निर्वाह करने लगे। ब्रह्मचारियों के लिये वर्जित तैल-फुलैल, माल्य-विलेपन, और अन्य शृंगार साधनों को उन्होंने पहले ही छोड़ दिया था। गृहस्थ होकर भी वे सादगी और संयम के आदर्श बने हुए शांतिमय और त्यागमय जीवन बिताते थे।

भगवान् महावीर स्वामी ने तीस वर्ष की आयु में सुख-वैभव तथा गृहस्थाश्रम का त्याग कर एकाकी 'जिन दीक्षा' ग्रहण की। आपने सब प्रकार के परिग्रह का सर्वथा त्याग किया। वस्त्र, पात्र, अलंकार आदि सब का त्याग कर साढ़े बारह वर्ष (१२ वर्ष, ६ महीने, १५ दिन) तक घोर तप किया। इतने समय में आपने ३४९ दिन आहार किया, वह भी दिन में मात्र एक ही बार। इतना समय तप करने के बाद छद्मस्थावस्था

को दूर कर केवलज्ञान–केवलदर्शन को प्राप्त किया। इस साधनावस्था में प्रभु महावीर ने कैसे-कैसे घोर परिषह और उपसर्ग सहन किये थे, उनका संक्षेप में यहाँ वर्णन कर देना इसलिये उचित है कि पाठक महोदय समझ सकेंगे कि भगवान् महावीर को अपने देहादि पर ममत्व बिल्कुल नहीं था। वे तो महान् तपस्वी त्यागी थे।

१. प्रथम उपसर्ग गवाले ने किया, इसने भगवान् महावीर को ध्यानावस्था में रस्सों से मारा। २. शूलपाणि यक्ष के मन्दिर में रहे तब शूलपाणि यक्ष ने अनेक उपसर्ग किये, जैसे कि—अदृश्य अट्टहास करके डराया। हाथी का रूप कर के सूड से उठाकर उछाला। सर्प का रूप बनाकर काटा। पिशाच का रूप बना कर डराया। मस्तक में, कान में, नाक में, नेत्रों में, दाँतों में, पीठ में, नखों में, सुकोमल अङ्गो में ऐसी वेदना की कि यदि कोई सामान्य पुरुष होता और उसके एक अंग में भी ऐसी पीड़ा होती तो उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती। किन्तु प्रभु ने मेरु के समान निश्चल रहते हुए अदीन मन से सब कुछ सहन किया। ३. चण्डकौशिक सर्प ने डंक मारा परन्तु प्रभु ने शान्त चित्त से सहन किया। ४. सुदंष्ट्र नागकुमार देवता का उपसर्ग सहन किया। ५. प्रभु बन में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े थे, लोगों ने वन में आग जलायी और वहाँ से अन्यत्र चले गये। अग्नि, सूखे घासादि को जलाती हुई प्रभु के पैरों के नीचे आ गयी, जिससे प्रभु के पैर जलने लगे, फिर भी प्रभु ने अपना ध्यान नही छोड़ा और वैसे ही ध्यानमग्न खड़े रहे। ६. कटपूतना व्यन्तर देवी ने माघ मास के दिनों में सारी रात भगवान के शरीर पर अत्यन्त शीतल जल छीटा, प्रभु विचलित नहीं हुए, अन्त में व्यन्तर देवी को ही हार माननी पड़ी। ७. संगम देवता ने एक रात्रि में प्रभु को बीस उपसर्ग किये—प्रभु पर धूलि की वर्षा की जिससे प्रभु के आँख, नाक, कानादि के स्रोत बन्द होने से प्रभु का श्वासोश्वास रुक गया तो भी प्रभु ध्यान से विचलित नहीं हुए। वज्रमुखी चीटियाँ बनाकर प्रभु के शरीर को छलनी के समान छेदन किया। वज्र चोंच वाले दंश बनाकर प्रभु को बहुत पीड़ा दी। तीक्ष्ण चोंचवाली दीमक

बनकर काया। बिच्छू, सर्प, नकुल, चूहे बनकर काटा तथा मांस को नोचा और खाया। हाथी-हथिनी बन कर सूंड और दांतों से मारा, पैरों तले रौंदा तो भी प्रभु ध्यानारूढ़ रहे। पिशाच बनकर अट्टहास करके डराया। सिंह बनकर नख और दाढ़ों से चीरा फाड़ा। सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप करके पुत्र का स्नेह दिखलाते हुए विलाप किया। स्कंधावार के लोग बनाकर प्रभु के पैरों में आग जला कर उसके पैरों पर हांडी रांधी। चाँडाल का रूप बनाकर पक्षियो के पिंजरे प्रभु के कान, बाहु आदि के साथ साथ लटका कर पक्षियों से शरीर नुचवाया। भयंकर आँधी से प्रभु को गेंद की तरहबार-बार उठाया और धरती पर पटका। उत्कलिका पवन चलाकर प्रभुको चक्र के समान घुमाया। भारी वजन वाला चक्र डालकर प्रभु को घुटनों तक भूमि में धसाया। प्रभात का समय बनाकर कहने लगे कि 'प्रभु! विहार करो' परन्तु प्रभु तो अवधि तथा मनःपर्यव ज्ञानी थे, इसलिये जानते थे कि अभी तो रात है। देवांगनाओं के रूप बनाकर हावभाव-कटाक्षादि- करके उपसर्ग किये। इन बीस प्रकार के उपसर्गों से प्रभु किंचित् मात्र भी विचलित नही हुए, तब संगम देवता ने छः मास तक प्रभु के साथ-साथ रहकर उन्हें उपसर्ग किये। अन्त में थक कर वह अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होकर चला गया। ८ अनार्य देश में प्रभु को बहुत परिषह उपसर्ग हुए। ९. अन्त में प्रभु के दोनों कानों में गवाले ने बाँस की कीलियाँ ठोंकी, उनसे बहुत पीड़ा हुई।

भगवानने इन उपसर्गों को बड़ी शान्ति और धैर्य से सहन किया और पूर्व-संचित कर्मों को भोग लिया, जिससे आप के सब घातिया कर्म क्षय हो गये। यदि प्रभु महावीर ऐसे परिषहों को शान्ति तथा धैर्य के साथ सहन न करते और कठोर तप न करते तो पूर्वोपार्जित पापकर्म क्षय न होते और न ही वे केवल ज्ञान-केवल दर्शन प्राप्त करते; और न ही अन्त में सर्व कर्मों को क्षय कर मोक्ष प्राप्त करते।

केवल ज्ञान प्राप्त करने के बाद महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अरिहंत जिन, केवली रूप हो गये। विश्व के सब चराचर पदार्थों का साक्षात्कार उन्हें इस प्रकार हो गया जैसे हाथों की अँगुलियाँ।

भगवान् महावीर को बौद्ध ग्रन्थों में 'निगण्ठ नाथपुत्त' के नाम से सम्बोधित किया है। बौद्धों के 'सुत्त पिटक' नामक ग्रन्थ में निर्ग्रन्थों (जैनों) के मत की काफी जानकारी मिलती है। इन्हीं के "मज्झिम निकाय के चूल दुक्खक्खन्ध सुत्त" नामक ग्रन्थ में वर्णन है कि राजगृह में निर्ग्रन्थ खड़े-खडे तपश्चर्या करते थे। निगण्ठ नाथपुत्त (महावीर) सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे। चलते हुए, खड़े रहते हुए, सोते हुए या जागते हुए, हर स्थिति में उनकी ज्ञानदृष्टि कायम रहती थी।

भगवान् महावीर का आचार—

भगवान् महावीर पाँच महाव्रतधारी तथा रात्रिभोजन के सर्वथा त्यागी थे। इन व्रतों का स्वरूप जैन श्रमण के आचार में कर आये हैं।

भगवान् महावीर दीक्षा (सन्यास) लेने के बाद एक वर्ष तक मात्र एक देवदूष्य वस्त्र सहित रहे, तत्पश्चात् सर्वथा नग्न रहते थे। हाथों की हथेलियो मे भिक्षा ग्रहण करते थे। उनके लिये तैयार किये हुए अन्नादि आहार को वे स्वीकार नही करते थे और न ही किसी के निमन्त्रण को स्वीकार करते थे। मत्स्य, माँस, मदिरा, मादक पदार्थ, कन्द, मूल आदि अभक्ष्य वस्तुओं को कदापि ग्रहण नहीं करते थे। प्रायः तपस्या तथा ध्यान में ही रहते थे। छ. छः मास तक निर्जल उपवास (सब प्रकार की खाने-पीने की वस्तुओं का त्याग) करते थे। दाढ़ी मूछ के बाल उखाड़ कर केश लोच करते थे। स्नानादि के सर्वथा त्यागी थे। छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े किसी भी प्राणी की हिंसा न हो जाय इसके लिए वे बहुत सतर्कता पूर्वक सावधानी रखते थे। वे बडी सावधानी से चलते-फिरते, उठते-बैठते थे। पानी की बूदो पर भी तीव्र दया रहती थी। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव का भी नाश न हो जाय इसके लिये बहुत सावधानी रखते थे। भयावने जंगलों, अटवियों आदि निर्जन जगहो में ध्यानारूढ़ रहते थे। वे स्थान इतने भयंकर होते थे कि यदि कोई सांसारिक मनुष्य वहां प्रवेश करता तो उसके रोंगटे खड़े हो जाते। जाड़ों में हिमपात

की भयानक सर्दी में भी अग्नि की आतापना नहीं लेते थे। सख्त गर्मी के मौसम में भी पंखे आदि से हवा नहीं करते थे। पृथ्वी पर चलते समय वनस्पति तथा पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना न हो जाय इसकी पूरी-पूरी सावधानी रखते हुए विहार करते थे।

ऐसा आचरण सभी जैन तीर्थंकरों का होता है। आज भी तपश्चर्या तथा पाँच महाव्रतों के अभ्यास से कर्म क्षय किये जा सकते हैं। यह परम्परा आज भी जैनों में कायम है।

केवलज्ञान प्राप्ति के पश्चात् महावीर प्रभु विश्व में दुःख संतप्त प्राणियों के उद्धार के लिये सतत सर्वत्र घूमकर कल्याणकारी उपदेश देते रहे और ७२ वर्ष की आयु में उन्होंने निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया।

---

[५]

श्रमण भगवान् महावीर का तत्त्वज्ञान

किसी भी महापुरुष के जीवन का वास्तविक रहस्य जानने के लिये दो बातों की आवश्यकता होती है :—(१) उस महापुरुष के जीवन की बाह्य घटनाएँ और (२) उनके द्वारा प्रचारित उपदेश। बाह्य घटनाओं से आन्तरिक जीवन का यथावत् परिज्ञान नहीं हो सकता। आन्तरिक जीवन को समझने के लिये उनके विचार ही अभ्रान्त कसौटी का काम दे सकते हैं। उपदेश, उपदेष्टा के मानस का सार, उनकी आभ्यन्तरिक भावनाओं का प्रत्यक्ष चित्रण है। तात्पर्य यह है कि उपदेष्टा की जैसी मनोवृत्ति होगी वैसा ही उसका उपदेश होगा। यह कसौटी प्रत्येक मनुष्य की महत्ता का माप करने के लिये उपयोगी हो सकती है; क्योंकि विचारों का मनुष्य के आचार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसलिये एक को समझे बिना दूसरे को नहीं समझा जा सकता। श्रमण भगवान् महावीर के उपदेशों को हम दो विभागो में विभक्त कर सकते हैं। (१) विचार यानी तत्त्वज्ञान (२) आचार यानी आचरण अथवा चरित्र। यहाँ पर उनके विचार अथवा तत्त्वज्ञान का संक्षिप्त परिचय देगे। केवलज्ञान पाने के बाद भगवान् ने कहा—(१) यह लोक है, इस विश्व में जीव और जड़ दो पदार्थ हैं, इनके अतिरिक्त और तीसरी मौलिक वस्तु है ही नहीं। इसलिये यह कह सकते हैं कि जीव और जड़ के समूह को ही लोक कहते हैं। (२) प्रत्येक पदार्थ मूल द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य-अन्तवान् है। (३) लोकालोक अनन्त है। (४) जीव और शरीर भिन्न हैं। जीव शरीर नही, शरीर जीव नहीं। (५) जीवात्मा अनादि काल से कर्म से बद्ध है इसलिये यह पुनः पुनः जन्म धारण करती है। (६) जीवात्मा

कर्म रहित होकर मुक्त होती है। (७) जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है तो भी अहिंसा, संयम तथा तपश्चरण द्वारा कर्मों को सर्वथा अलग किया जा सकता है। (८) आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है तथा अरूपी व स्वदेहप्रमाण है। (९) जीवात्मा ज्ञान-दर्शन-मय स्वतन्त्र पदार्थ है। (१०) विश्व छः द्रव्यात्मक है:—जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल। इनमें जीव चैतन्य है, बाकी पाँच द्रव्य जड़ हैं, पुद्गल रूपी है, बाकी पाँच द्रव्य अरूपी हैं। (११) विश्व के सब पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक नित्यानित्य हैं। (१२) जीव कर्म करने और भोगने में स्वतन्त्र है तथा अपने पुरुषार्थ बल से कर्मों का सर्वथा क्षय करके सिद्ध और मुक्त होकर शाश्वत आनन्द का उपभोक्ता बनता है। (१३) अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि की अभिवृद्धि एवं अभिव्यक्ति से आत्मा अपनी स्वाभाविकता के समीप पहुँचते हुए स्वयं धर्ममय बन जाता है। (१४) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र इन तीनों की परिपूर्णता से जीवात्मा मुक्ति प्राप्त करती है। (१५) मुक्तावस्था में आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। (१६) अपने भाग्य का निर्माता जीव स्वयं है। (१७) जीवात्मा मुक्त होने के बाद पुनः अवतार नहीं लेती। (१८) तत्त्व नव है—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष। (१९) मानव शरीर से जीवात्मा सब कर्मों को क्षय करके ईश्वर बनती है अर्थात् मुक्ति प्राप्त करना ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। (२०) जीवात्मा राग-द्वेष (मोहनीय कर्म) के क्षय से वीतरागता को प्राप्त करती है। यह ज्ञानावरणीय आदि चार घाती कर्मों को क्षय करके केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनता है। (२१) ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं है; जगत् तो अनादि काल से प्रवाह रूप से अनादि और अनन्त है। इस प्रकार लोक, जीव, अजीव, ईश्वर आदि के स्वरूप का विस्तार पूर्वक विवेचन कर अपनी सर्वज्ञता का परिचय दिया है।

सारांश यह है कि प्रभु महावीर के परम पवित्र प्रवचन (उपदेश)

का आधार मन:कल्पना और अनुमान की भूमिका पर नहीं था, परन्तु उनके प्रवचन में केवलज्ञान द्वारा हाथ में रखे हुए आंवले के समान समस्त विश्व के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानकर लोकालोक के मूल तत्त्व-भूत द्रव्य-गुण-पर्याय के त्रिकालवर्ती भावों का दिग्दर्शन था। अथवा आधुनिक परिभाषा में कहा जाए तो उसमें विराट विश्व या अखिल ब्रह्माण्ड (Whole Cosmos) की विधि विहित घटनाएँ (Natural phenomena), उनके द्वारा होती हुई व्यवस्था (Organisation), विधि का विधान और नियम (Law and order) का प्रतिपादन तथा प्रकाशन था।

---

[६]

श्रमण भगवान् महावीर तथा अहिंसा

साढ़े बारह वर्ष की कठिन तपस्या और घोर योगचर्या के पश्चात् भगवान् महावीर-वर्धमान को केवलज्ञान—केवलदर्शन की प्राप्ति हुई। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी जीवनमुक्त परमात्मा हुए। अब तीर्थंकर प्रकृति का पूर्ण विकास उन के महान् व्यक्तित्व में हुआ। केवलज्ञान की प्राप्ति से भगवान् महावीर सारे विश्व के त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को हाथ की अंगुलियों के समान प्रत्यक्ष जानने लगे। उस समय वे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य के जीवित पुञ्ज थे। जैनागमों में सर्वत्र भगवान् महावीर को सर्वज्ञ सर्वदर्शी माना है। ज्ञातपुत्र महावीर के समकालीन बौद्धों के पिटकों में भी भगवान् महावीर को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वीकार किया है। बौद्धों के 'अंगुत्तरनिकाय' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि ज्ञातपुत्र महावीर सर्वज्ञाता और सर्वदर्शी थे। उनकी सर्वज्ञता अनन्त थी। वे चलते-बैठते, सोते-जागते हर समय सर्वज्ञ थे[१]। 'मज्झिम निकाय' में उल्लेख है कि ज्ञातृपुत्र महावीर सर्वज्ञ हैं।[२] वे जानते हैं कि किस-किसने किस प्रकार का पाप किया है और किसने नहीं किया है।

भगवान् महावीर अहिंसा तत्त्व की साधना करना चाहते थे। उस के लिये उन्होंने संयम और तप ये दो साधन पसन्द किये। उन्होंने यह विचार किया कि मनुष्य अपनी सुखप्राप्ति की लालसा से प्रेरित होकर ही अपने से निर्बल प्राणियों के जीवन की आहुति देता है और

---

१. अं० नि० १-२२०.
२. म० नि० २-२१४-२८।

इस प्रकार सुख की मिथ्या भावना और संकुचित वृत्ति के कारण व्यक्तियों और समूहों में द्वेष बढ़ाता है, शत्रुता की नींव डालता है और इसके फल-स्वरूप पीड़ित एवं पददलित जीव बलवान होकर बदला लेने का निश्चय तथा प्रयत्न करते हैं और बदला लेते भी हैं। इस तरह हिंसा और प्रतिहिंसा का ऐसा विषचक्र तैयार हो जाता है कि लोग संसार के सुख को स्वयं ही नरक बना देते हैं। हिंसा के इस भयानक स्वरूप के विचार से महावीर ने अहिंसातत्त्व में ही समस्त धर्मों का, समस्त कर्त्तव्यों का और प्राणिमात्र की शान्ति का मूल देखा। यह विचार कर उन्होंने वैरभाव को तथा कायिक और मानसिक दोषों से होने वाली हिंसा को रोकने के लिये तप और संयम का अवलम्बन लिया।

संयम का सम्बन्ध मुख्यतः मन और वचन के साथ होने के कारण उन्होंने ध्यान और मौन को स्वीकार किया। भगवान् महावीर के साधक-जीवन में संयम और तप यही दो बातें मुख्य हैं और उन्हें सिद्ध करने के लिये उन्होंने साढ़े बारह वर्षों तक जो प्रयत्न किया और उसमें जिस तत्परता और अप्रमाद का परिचय दिया वैसा आज तक की तपस्या के इतिहास में किसी व्यक्ति ने दिया हो, वह दिखलाई नहीं देता। गौतम बुद्ध आदि ने महावीर के तप को देह-दुःख और देहदमन कह कर उसकी अवहेलना की है। परन्तु यदि वे सत्य तथा न्याय के लिये भगवान् महावीर के जीवन पर तटस्थता से विचार करते तो उन्हें यह मालूम हुए बिना कदापि न रहता कि भगवान् महावीर का तप शुष्क देहदमन नहीं था। वे संयम और तप दोनों पर समान रूप से जोर देते थे। वे जानते थे कि यदि तप के अभाव से सहनशीलता कम हुई तो दूसरों की सुखसुविधा की आहुति देकर अपनी सुखसुविधा बढ़ाने की लालसा बढ़ेगी और उसका फल यह होगा कि संयम न रह पायेगा। इसी प्रकार संयम के अभाव में कोरा तप भी पराधीन प्राणी पर अनिच्छा पूर्वक आ पड़े देह कष्ट की तरह निरर्थक है।

ज्यों-ज्यों संयम और तप की उत्कटता से महावीर अहिंसातत्त्व के

अधिकाधिक निकट पहुँचते गये त्यों-त्यों उनकी गम्भीर शान्ति बढ़ने लगी। जिसके प्रभाव से उन्होंने राग-द्वेष को सर्वथा क्षय कर केवलज्ञान की प्राप्ति कर सर्वज्ञत्व प्राप्त किया।

भगवान् महावीर के समकालीन अनेकों धर्मप्रवर्तक थे उनमें से १. तथागत गौतम बुद्ध, २. पूर्णकश्यप, ३. संजय बेलट्ठिपुत्त, ४. पकुधकच्चायन, ५. अजितकेस कम्बलि और ६. मंखली गोशालक के नाम मिलते हैं। (भगवान् महावीर इनके अलावा थे)।

उस समय के सर्व धर्म-प्रवर्तकों से भगवान् महावीर के तप-त्याग-संयम तथा अहिंसा की जनता के मानस पर बहुत गहरी छाप पड़ी थी, क्योंकि उन्होंने राग-द्वेष आदि मलिन वृत्तियों पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी, जिससे वे वीतराग बने थे। इस साध्य की सिद्धि जिस अहिंसा, जिस तप या जिस त्याग में न हो सके वह अहिंसा, तप तथा त्याग कैसा ही क्यों न हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपयोगी है। अतः प्रभु महावीर ने राग-द्वेष की विजय पर ही मुख्यतया भार दिया था और अपने आचरण में आत्मसात् कर उन्होंने अपनी काया, वाणी तथा मन पर काबू पाया था अर्थात् अपने दैहिक और मानसिक सब प्रकार के ममत्व का त्याग कर राग-द्वेष को सर्वथा जीतने से समदृष्टि बने थे। इसी दृष्टि के कारण भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट जैन धर्म का बाह्य और अभ्यन्तर, स्थूल-सूक्ष्म सब प्रकार का आचार साम्यदृष्टिमूलक, अहिंसा की भित्ति पर ही निर्मित हुआ है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा और पुष्टि न हो सके ऐसे किसी भी आचार को जैन परम्परा मान्य नहीं रखती।

यद्यपि अन्य सब धार्मिक परम्पराओं ने अहिंसा तत्त्व पर न्यूनाधिक भार दिया है, पर जैन परम्परा ने इस तत्त्व पर जितना भार दिया है और उसे जितना व्यापक बनाया है, उतना भार और उतनी व्यापकता अन्य धर्म-परम्परा में देखी नहीं जाती। जैनधर्म ने मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग और वनस्पति ही नहीं किन्तु पार्थिव, जलीय, आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओं तक की हिंसा से, आत्मौपम्य की भावना द्वारा, निवृत्त होने के लिये कहा है।

अहिंसा के इस उपर्युक्त विवेचन से भगवान् महावीर के आदर्श अहिंसामय जीवन का और उनके द्वारा प्रदत्त अहिंसा के उपदेश का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है ।

केवल भगवान् महावीर ने ही नहीं परन्तु सब जैन तीर्थंकरों ने प्राणिवध एवं मांसाहार का विरोध अपने अपने समय में किया था।

एक समय था जब कि केवल क्षत्रियों में ही नहीं पर सभी वर्गों में मांस खाने की प्रायः प्रथा होगी। उस युग में यदुवंशीय नेमिकुमार ने एक अद्‌भुत कदम उठाया। उन्होंने अपनी शादी पर भोजन के वास्ते कतल किये जाने वाले पशु-पक्षियों की आर्त्त मूक वाणी से सहसा पिघल कर निश्चय किया कि वे ऐसी शादी न करेंगे जिसमें पशु पक्षियों का वध होता है। उस गंभीर निश्चय के साथ वे सबकी सुनी अनसुनी करके बारात से शीघ्र वापिस लौट आये। द्वारका से सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर उन्होंने तपस्या की। भर जवानी में उन्होंने सांसारिक सुखभोगो की परवाह न करते हुए राजपुत्री, राजीमती को त्यागकर और ध्यान-तपस्या का मार्ग अपना कर चिरप्रचलित पशु-पक्षीवध की प्रथा पर इतना सख्त प्रहार किया कि गुजरात भर में तथा उसके प्रभाव वाले दूसरे प्रान्तो में भी यह प्रथा सदा के लिये समाप्त हो गई।

भगवान् पार्श्वनाथ ने भी जीवहिंसा के विरोध करने के कारण महान् उपसर्ग सहे। दुर्वासा जैसे सहज कोपी कमठ नामक तापस तथा उनके अनुयायियों की नाराजगी का खतरा उठा कर भी एक जलते साँप को गीली लकड़ी से बचाने का प्रयत्न किया।

दीर्घतपस्वी महावीर ने भी स्थान-स्थान पर तथा समय-समय पर अपनी अहिंसक वृत्ति का अपने जीवन में अनेक बार परिचय दिया।
१. जब जंगल में वे ध्यानस्थ खड़े थे एक प्रचण्ड विषधर (चण्डकौशिक) ने उन्हें डँस लिया, उस समय वे न केवल ध्यान में अचल ही रहे परन्तु उन्होंने मैत्री भावना का उस विषधर पर प्रयोग किया जिससे वह सदा के लिये वैर-

होने वाली हिंसा को रोकने का भरसक प्रयत्न तो वे आजन्म करते ही रहे। इसीलिये तो उन्होंने अहिसा को जैन श्रमणों तथा जैन श्रावकों के व्रतों में सर्वप्रथम स्थान दिया है:—

"तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभएसु संजमो ॥
(द० अ० ६ गा० ९)
एवं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसई कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया ॥"
(सू० श्रु० १ अ० ११ गा० १०)

अर्थात् अहिसा को प्रभु महावीर ने (साधु और श्रावक के व्रतों में) सर्वप्रथम रखा है। अहिंसा को उन्होंने कल्याणकारी ही देखा है। सर्व जीवों के प्रति संयमपूर्ण जीवनव्यवहार ही उत्तम अहिंसा है।

ज्ञानियों के वचनों का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाए। अहिंसा के द्वारा प्राणियों पर समभाव ही धर्म समझना चाहिये।

सारांश यह है कि जैन तीर्थंकर अहिंसा की सुरक्षा के लिये आजन्म कटिबद्ध रहे और अनेक कठिनाइयों के बीच भी इन्होंने अपने आदर्शों द्वारा विश्व को मैत्री तथा करुणा का पाठ पढ़ाया है। उनके ऐसे ही आदर्शों से जैन संस्कृति उत्प्राणित होती आयी है और अनेक कठिनाइयों के बीच भी उसने अपने आदर्शों के हृदय को किसी न किसी तरह संभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजकीय इतिहास में जीवित है।

भगवान् महावीर के मांसाहार सम्बन्धी विचार

१—करुणा के प्रत्यक्ष अवतार भगवान् महावीर ने माँसाहार को दुर्व्यसनों में माना है और इसे नरक का कारण भी बतलाया है। जैनागम स्थानाँग सूत्र के चौथे स्थान में भगवान महावीर फरमाते हैं कि "चार कारण से प्राणी नरक में जाता है—(१) महारम्भ से, (२) महापरिग्रह रखने से; (३) पँचेन्द्रिय जीवों का वध करने से, (४) माँस भक्षण करने से। पंचमाँग भगवती सूत्र, उववाई सूत्र तथा स्थानांग सूत्र में भी इसी प्रकार का वर्णन है:—

वह सूत्र पाठ इस प्रकार है :—

**"चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरतियत्ताए कम्मं पकरेंति तं जहा:—
महारंभताते, महापरिग्गहयाते पंचिंदियवहेण कुणिमाहारेण ॥"**

(ठाणांग सूत्र ठा० ४)

२—जैन साहित्य में घातक (कसाई-हिंसक) किन्हें कहना चाहिए उसका वर्णन इस प्रकार मिलता है :—

**"अनुमन्ता, विशसिता, निहन्ता, क्रय-विक्रयी।
संस्कर्ता, चोपहर्ता च खादकाश्चेति घातका: ॥"**

अर्थात् १—मारने की सलाह देने वाला, २—प्राणियों के शरीर को काटने वाला, ३—मारने वाला, ४—माँस मोल लेने वाला, ५—माँस

बेचने वाला, ६—माँस पकाने वाला, ७—माँस परोसने वाला, ८—तथा मांस खाने वाला ये सब घातक (कसाई-हिंसक) हैं।

३—भगवान् महावीर ने माँसाहार, मदिरा और अभक्ष्य पदार्थों का आहार कितना पाप मूलक बतलाया है इसके विषय में जैनागम सूत्र-कृतांग में वर्णन है :—

"जो लोग मदिरा, मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का आहार करते हैं वे चाहे मल-मल कर स्नान करें, चाहे नमक आदि स्वादु पदार्थों का त्याग कर दें उन्हें कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, वे तो अनर्थ के करने वाले हैं।" सूत्र पाठ यह है :—

"पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो,
खारस्स लोणस्स अणासएणं।
ते मज्जमंसं लसुणं च भोच्चा,
अनत्थ वासं परिकप्पयंति ॥१३॥

(सूत्रकृतांग श्रुतस्कन्ध १ अध्ययन ७)

४—शराबी और माँसाहारी को कितनी घोर यातनाएं नरक गति में भोगनी पड़ती हैं इसका भी विस्तृत वर्णन जैनागमों में पाया जाता है।

५—आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर फरमाते हैं कि "जैन भिक्षु को यदि कहीं माँस मछली अथवा उसकी खाल कांटे आदि होने का पता लग जावे तो वह वहाँ न जाए। किसी प्राणी, किसी भूत, किसी जीव, किसी सत्व को न मारना चाहिए, न सताना चाहिए, न कष्ट पहुंचाना चाहिए, यही धर्म शुद्ध है।

६—सूत्रकृतांग में फरमाते हैं कि जैन साधु मांस-मदिरा का त्याग करे। जो माँस मदिरा का सेवन करते हैं वे अज्ञानता से पाप करते हैं, उनका मन अपवित्र है और वचन भी झूठा है (सूत्रकृतांग अ०-२)।

७—उत्तराध्ययन सूत्र में-मदिरा पान, माँस भक्षण तथा दुराचरण आदि से नरकगति की आयु का बन्ध होता है। हिंसक यज्ञ करने वाले, झूठ बोलने वाले, कपटी, चुगलखोर, शठ तथा माँस-मदिरा भक्षी जो

होते हैं वे समझते हैं कि यही जीवन का आनन्द है, परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि जिसे माँस अथवा माँस का टुकड़ा प्रिय है वह भी उसी प्रकार पकाया व खाया जाएगा।

८—अनुयोगद्वार सूत्र में :—जिस प्रकार तुझे दुःख अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार किसी जीव को भी दुःख अच्छा नहीं लगता। यह जान कर जो न स्वयं किसी को मारता है और न मारने की प्रेरणा ही करता है, सभी के प्रति समभाव रखता है, वही श्रमण है।

९—दशवैकालिक सूत्र में—शराब छोड़ दे, माँस छोड़ दे, विकृति (रस-पुष्ट) भोजन का त्याग कर। बार-बार कायोत्सर्ग (ध्यान) तथा स्वाध्याय योग में लीन हो जा।

१०—ज्ञानी होने का सार यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसा का सिद्धान्त ही सर्वोपरि है—मात्र इतना ही विज्ञान है। सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। सीलिए निर्ग्रंथ (जैन मुनि) घोर प्राणिवध का सर्वथा त्याग करे।

११—जो औषध में माँस खिलावे या सम्मति दे वह नरक में जाता है।

१२—माँस दुर्गन्ध वाला है, वीभत्स है, शरीर के मलों से बना हुआ है, अपवित्र है और नरक में ले जाने वाला है। अतः त्याज्य है।

१३—माँस में क्षण भर में ही अनन्त सूक्ष्म कीटाणुओं का जन्म और विनाश होता है। वह नरक के मार्ग में ले जाने वाला भोजन है। कौन बुद्धिमान् ऐसे मांस को खा सकता है ?

१४—माँस कच्चा हो या पकाया हुआ उसके प्रत्येक टुकड़े में निर्बाध रूप से निगोद के जीव उत्पन्न होते हैं।

१५—आचार्य रत्नशेखर सूरि—संबोध सप्ततिका में स्पष्ट लिखते हैं :—कि आगम में माँस मदिरा आदि को जीवों का उत्पत्ति स्थान बतलाया है :—

"आमासु य पक्कासु य विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
आयंतिअमुववाओ भणिओ उ णिगोअजीवाणं॥ १॥

मज्जे महुम्मि मंसम्मि णवणीयम्मि चउत्थए ।
उप्पज्जंति अणंता तव्वण्णा तत्थ जंतुणो ॥ २ ॥

(श्लोक ६६, ६७)

अर्थात्—"कच्चे, पक्के और अग्नि में पकाये हुए मांस की प्रत्येक अवस्था में अनन्त निगोद जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। मदिरा, मधु, मांस और मक्खन में मद्य, मधु, मांस और मक्खन के रंग के अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती है।" इस प्रकार मांस आदि खाने से अनन्त जीवों का नाश होता है अतएव इनका सेवन करना दोषपूर्ण है।

१६—आज के विज्ञान ने भी इस बात को स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि मांस अनगिनत जीव कीटाणुओं का पुंज है और उसमें प्रतिक्षण कृमि समान जीव उत्पन्न होते रहते हैं।

१७—भगवान महावीर आचारांग सूत्र में फरमाते हैं :—

से बेमि—जे अईया जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णविंति, एवं परूविंति सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघितव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा। एस-धम्मे सुद्धे णिइए, सासए, समिच्च लोयं खेयण्णहिं पवेइए तं जहा—उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा, अणुवट्ठिएसु वा, उवरयदंडेसु वा, अणुवरयदंडेसु वा, सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा, संजोगएसु वा, असंजोगएसु वा, तच्चं चेयं, तहा चेयं अस्सि चेयं पवुच्चई। (आचारांगे)

भावार्थ :—वे (भगवान् महावीर) कहते हैं कि भूतकाल में जो तीर्थंकर हो चुके हैं, अब जो विद्यमान हैं और जो अनागत काल में होंगे; वे सब इस तरह कहते हैं, बोलते हैं, दूसरों को समझाते हैं तथा प्ररूपणा करते हैं—किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्वों को नहीं मारना चाहिए। उनपर शासन (दबाव) नहीं डालना चाहिए, उन्हें दास की तरह अधिकार में नहीं रखना चाहिए। उन्हें किसी प्रकार का संताप नहीं देना चाहिए। तथा उनके प्राणों को नहीं लूटना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है,

शाश्वत है। संसार के दुःखों को जानने वाले अरिहंत-भगवंतों ने संयम में उद्यत और अनुद्यत, उपस्थित और अनुपस्थित, मुनियों और गृहस्थों, रागियों और त्यागियों, भोगियों और योगियों को समभाव में यह उपदेश दिया है। यही एक सत्य है, यही तथारूप है और ऐसा धर्म इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में ही कहा है।

तीर्थंकर भगवन्तों ने मांस के समान अण्डे खाने का भी निषेध किया है क्योंकि यह त्रस जीव का कलेवर है। जिस प्रकार मांस मछली मदिरा आदि अभक्ष्य होने से जैनागमों में उनके भक्षण का सर्वथा निषेध है उसी प्रकार अण्डा भी सचित्त (त्रस जीव वाला) होने से अभक्ष्य है। जैनागमों में कहा है:—

"से बेमि, संति मे तसा पाणा तं जहा–अंडया, पोतया, जराउया रसया संसेयया, सम्मुच्छिमा उब्भियया, उववाइया एस संसारे त्ति पवुच्चति मंदस्स अविजाणतो।

(आ० अ० १ उ० ६)

भगवान् फरमाते है कि इस संसार में आठ प्रकार के त्रस जीव होते हैं जैसे कि:—[1]अण्डज, [2]पोतज, [3]जरायुज, [4]रसज, [5]संस्वेदज, [6]संमुर्च्छिम, [7]उदभिज्जक और [8]औपपातिक।

इस पाठ से स्पष्ट है कि कुछ त्रस जीव अण्डे से उत्पन्न होते हैं इसलिए अण्डा भी सजीव सिद्ध हो जाता है।

आज के विज्ञान की यह मान्यता है कि अण्डा गर्भ से निकलते समय निर्जीव होता है। मादा जब ऊपर बैठकर उसे सेती है तो गर्मी के द्वारा उसमें जीव उत्पन्न हो जाता है। विज्ञान की यह युक्ति उचित प्रतीत नहीं होती। मादा के अण्डे पर बैठने से और गर्मी पहुंचाने से यदि अण्डे में जीव उत्पन्न होता है तो एक आटे की गोली अण्डे जैसी बनाकर मादा के नीचे रखने से खूब गर्मी पहुंचाने पर उसमें से बच्चा निकलना चाहिये क्योंकि यदि सेते समय गर्मी पहुंचाने से ही अण्डे में से बच्चा निकलता

है तो आटे की गोली में से भी अवश्य निकलना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता क्योंकि आटे की गोली में पंचेन्द्रिय जीव नहीं होता।

अण्डा गर्भ में बनता है और जीव भी गर्भ में पैदा होता है। बाहर आकर केवल परिपक्व होता है और पूर्ण होता है। यहां यह बात समझ लेनी चाहिए कि अण्डे भी दो प्रकार के होते हैं [1]गर्भज, [2]सम्मूर्छिम। मुर्गी आदि के अण्डे गर्भ में उत्पन्न है इसलिए अण्डे से निकलने वाले जीव को द्विज कहते हैं। द्विज का अर्थ है दो बार जन्म लेना। एक जन्म गर्भ में आकर अण्डे के रूप में उत्पन्न होता है दूसरा अण्डे के गर्भ से बाहर आने के पश्चात् उस में से बच्चे के रूप में निकलना दूसरा जन्म है। इस प्रकार अण्डा सजीव सिद्ध होता है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि गर्भज अण्डा दो प्रकार का होता है (१) जिस अण्डे में से बच्चा बन कर निकलता है (२) जिस अण्डे में से बच्चा बन कर नहीं निकलता। अतः वे कहते हैं कि जिस अंडे में से बच्चा बन कर निकलता है उसमें जीवनी शक्ति है और जिसमें से बच्चा बन कर नहीं निकलता उसमें जीवनी शक्ति नहीं है परन्तु उनकी यह धारणा भी ठीक प्रतीत नहीं होती। वास्तव में दोनों में जीवनी शक्ति है। जिस प्रकार बंध्या स्त्री में जनन क्रिया नहीं होती इसका अर्थ यह नहीं कि उसकी योनि निर्जीव है अपितु उसकी योनि सजीव होने पर भी उसमें जनन क्रिया का अभाव है और अवंध्या स्त्री में जनन शक्ति होने पर जनन क्रिया होती है वैसे ही अवंध्या अण्डों में से बच्चे निकलते हैं और वंध्या अण्डों में से बच्चे नहीं निकलते। अतः अण्डे आदि का भक्षण भी उचित नहीं है इसलिए भगवान् महावीर आदि सभी तीर्थंकरों ने अण्डे को भी अभक्ष्य मान कर इसका प्रयोग उचित नहीं माना और इसीलिए जैन-आस्तिक लोग आज भी अण्डे का प्रयोग नहीं करते।

जैनागम-विपाक सूत्र के तीसरे अध्ययन "अभग्नसेन" में वर्णन है कि एक बार श्रमण भगवान् महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर

भिक्षा के लिए निकले। उन्होंने मार्ग में किसी अपराधी को देखा, जिसे राजपुरुषों ने घेरा हुआ था। उसे बुरी तरह पीटा जा रहा था। उसे उसी का मांस काट-काट कर खिलाया जा रहा था। उस की दुर्दशा को देखकर इन्द्रभूति गौतम कर्म-फल का विचार करने लगे और उनका हृदय करुणा से द्रवित होगया। वापिस लौट कर उन्होंने भगवान् महावीर से पूछा, भन्ते! "जिस अपराधी को मैंने राजपथ पर देखा है वह अपने पहले जन्म में कौन था! उसने अपने पिछले जन्म में क्या बुरे कर्म किये थे जिससे उसकी यह दुर्दशा हो रही है?"

भगवान् बोले—"गौतम! यह अपने पूर्व जन्म मे अण्डों का व्यापारी था। स्वयं भी मांस-अण्डे आदि भक्षण करता था इसका नाम निह्नक था और अण्डों के व्यापार के कारण यह निह्नक अण्ड बनिये के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। उसने इस काम के लिए नौकर रखे हुए थे, जो मोरनी मुर्गी, कबूतरी आदि के अण्डे खरीद कर लाते और बाजार में जाकर बेचा करते थे। वह स्वयं भी अण्डों को भूनता, तलता और खाता था। शराब पीकर नशे में चूर रहता था। भगवान् बोले-हे गौतम! यह इतना पापी था जिसके फलस्वरूप अपने जीवन के दिन पूरे कर वह तीसरी नरक में जाकर पैदा हुआ। वहाँ दारुण दु.ख भोग कर यहां विजय चोर के घर जन्मा है। इस जन्म में भी अपने किये का फल भोग रहा है।

इन उपर्युक्त उद्धरणों से भगवान् महावीर के आदर्श अहिंसामय जीवन का और उनके द्वारा प्रदत्त अहिंसा के उपदेश का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है।

इससे स्पष्ट है कि श्रमण भगवान् महावीर ने अपने इन विचारों को स्वयं अपने आचरण में उतारा और फिर मानव समाज को प्राणी मात्र की अहिंसा का अपनी वाणी और करणी द्वारा प्रभावोत्पादक उपदेश दिया। इसी के परिणाम स्वरूप आज भी जैन अहिंसा विश्व में अलौकिक स्थान रखती है।

तथा यह भी स्पष्ट है कि माँस, अण्डे, मत्स्य, मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण करने से न तो मोक्ष की प्राप्ति ही हो सकती है और न ही जीव सद्‌गति प्राप्त कर सकता है। यह तो महान् अनर्थकारी है, बहुत दोषों वाला है, इसे खाने वाला व्यक्ति मर कर नरक में नारकी का जन्म लेकर घोर यातनाओं को भोगता है।

---

[८]

जैन मांसाहार से सर्वथा अलिप्त

इस उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रमण भगवान् महावीर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे। उनके आचार और विचार यहाँ तक पवित्र थे कि जब वे अजीव पदार्थों का भी इस्तेमाल (उपयोग) करते थे तो इस बात की पूरी सावधानी रखते थे-"मेरे द्वारा किसी छोटे से छोटे प्राणी को भी कष्ट न पहुंचे।"

इस विश्वविभूति ने जगत के प्राणियों को जिस अहिंसा के महान् पवित्र सिद्धान्त का उपदेश दिया था उसका आचरण उनके रोम-रोम में था। अर्थात् जो कुछ वे जगत के प्राणियों को आचरण करने के लिये उपदेश देते थे उसको वे स्वयं भी पालन करते थे। उनके रोम-रोम और शब्द-शब्द से विश्व के प्रत्येक प्राणी के प्रति वात्सल्य भाव प्रगट होता था। उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद सर्वप्रथम यही उपदेश दिया था—"मा हण-मा हण (मत मारो-मत मारो)" अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो और इसी उपदेश के अनुसार ही जो उनके धर्म-मार्ग को स्वीकार करता था, उसे वे सर्वप्रथम जीव-हिंसा का त्याग रूप "प्राणातिपात विरमण व्रत" धारण कराते थे। फिर वह चाहे श्रमण हो अथवा श्रावक। इस का विवेचन हम पहले कर आये हैं।

श्रमण भगवान् महावीर की अहिंसा के विषय में भारत के महान् धाराशास्त्री सर अल्लाडी कृष्णा स्वामी अय्यर ने एक तार्किक दलील दी थी। उन्होंने कहा था कि मैं धारा शास्त्र का अभ्यासी होने से धार्मिक तत्त्वज्ञान में विशेष अध्ययन का लाभ नहीं

परन्तु Logically (तार्किक ढंग से) कहना पड़ता है कि मृग और गाय आदि प्राणी जो तृण भक्षण से अपना जीवन व्यतीत करते हैं वे यदि मांस भक्षण के विमुख बनें तो उसमें विशेषता ही क्या है? तत्त्व तो वहाँ है कि सिंह का बच्चा मांस का विरोध करे। यानी उनके कहने का अभिप्राय यह है कि धन-सोना, ऋद्धि-सिद्धि और ऐश्वर्य के झूले में झूला हुआ और खूनी संस्कृति से भरे हुए क्षत्रिय कुल के वातावरण में चमकती हुई तलवार के तेज में तल्लीन होता हुआ बालक, कुल परम्परा की कुल देवी समान खूनी खंजर के विरुद्ध महान् आन्दोलन करने के लिये सारी ऋद्धि-सिद्धि और सम्पत्ति को मिट्टी के समान मान कर और भोग को रोग तुल्य समझ कर योग की भूमिका में खूनी वातावरण को शान्तिमय और अहिंसक बनाने के लिए वनखण्ड और पर्वतों की कंदराओं में निस्पृही बन कर ज्ञातपुत्र वर्धमान (महावीर) सारा जीवन व्यतीत करे। मात्र दिनों तक ही नहीं किन्तु महीनों एवं वर्षों तक भपति दीर्घ-तपस्वी बन कर भटकता फिरे। साढे बारह वर्ष की घोर संयम यात्रा में अंगुलियों पर गिने जाने वाले नाम मात्र के दिनों में पारणे रूखे-सूखे टुकड़ों से करे और सारा काल अहिंसा के आदर्श सिद्धान्त के पालन करने और कराने में निमग्न रहे। संयम की सर्वोत्कृष्ट साधना करने में तीव्रातितीव्र तप की ज्वालाओं से अपनी आत्मा को कंचन समान निर्दोष बनाने में तल्लीन रहे। उन की इस घोर तपस्या-संयम आदि अमूल्य जीवन-यात्रा के पर्दे में बड़ा भारी रहस्य था कि जिस में मात्र मानव-समाज ही का नहीं, परन्तु प्राणी मात्र के परम श्रेय का लक्ष्य था।

मुझ तो यह तार्किक अनुमान बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है। दया के परम्परागत संस्कारों वाले कुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति दया का पालन करे और उसकी पुष्टि के लिये बातें करे यह तो स्वाभाविक है तथा भोग सामग्री के अभाव में वैराग्य के वातावरण का असर अनेकों पर होना संभव है किन्तु राजकुल की ऋद्धि और ऐश्वर्य के सागर में से

बाहर कूद कर त्याग भूमि पर आने वाले तो कोई अलौकिक व्यक्ति ही नजर आते हैं।

भगवान् महावीर ने जो उपसर्ग तथा परिषह सहन किये उनका वर्णन करते हुए हृदय कांप उठता है। धन्य है उस महाप्रभु महावीर को जिन के हृदय मे मित्रों के श्रेय के समान ही शत्रुओं के श्रेय का भी स्थान था।

जैनागमो में कहा है कि वे मात्र क्षमा में ही वीर न थे किन्तु दानवीर दयावीर, शीलवीर, त्यागवीर, तपोवीर, धर्मवीर, कर्मवीर और ज्ञानवीर आदि सर्व गुणों में वीर शिरोमणि होने मे उनका वर्धमान नाम गौन होकर महावीर नाम विख्यात हुआ।

भगवान ने कहा किसी देश राष्ट्र और जगत को जीत कर वश में करने वाला सच्चा विजेता नहीं, किन्तु जिस ने अपनी आत्मा को जीता है (self conqueror) वही सच्चा विजेता है।

उनका दर्शाया हुआ अहिंसावाद, कर्मवाद, तत्त्ववाद, स्याद्वाद, सृष्टि-वाद, आत्मवाद, परमाणुवाद, और विज्ञानवाद इत्यादि त्येक विषय इतना विशाल और गम्भीर है जिनका अभ्यास करने से उनकी सर्वज्ञता स्पष्ट सिद्ध होती है।

उन्होंने सर्वसाधारण जनता को मानव संस्कृति विज्ञान (Science of Human culture) के विकाश की पराकाष्ठा पर पहुंचने के लिये मुक्ति महातीर्थ का राजमार्ग (Royal road) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र (Right faith, Right knowledge and Right conduct) रूप अपूर्व साधन द्वारा पद्धतिसर दर्शाया। इसलिये वे तीर्थकर कहलाये।

संसार में तीर्थंकर पद सर्वोत्कृष्ट, सर्वोपरि और सर्वपूज्य होने के कारण उस काल में बौद्धधर्मादि भिन्न-भिन्न धर्मों के संस्थापक और संचालक अपने आपको तीर्थंकर कहलाने में उत्सुकता पूर्वक प्रतिस्पर्द्धा की दौड़धूम मचा रहे थे। अर्थात् उस समय मत-प्रतिस्पर्द्धा (Religious rivalry) की होड़ा-होड़ मच रही थी। जैसे कि आज सत्ता और प्रसिद्धि

(Power and popularity) प्राप्त करने के लिये होड़ मच रही है। परन्तु कहावत है कि "All that glitters is not gold) (प्रत्येक चमकने वाली वस्तु सोना नहीं होती)। इस उक्ति के अनुसार श्रुति, युक्ति और अनुभूति द्वारा सुज्ञ और विज्ञजन (People of Culture and common sense) के लिये यह समझना कोई कठिन बात नहीं है कि तीर्थंकर होने के लिये जिस योग्यता का होना आवश्यक है वह भगवान् महावीर के सिवाय उनके समकालीन अन्य किसी भी र्म प्रवर्तक में नही था।

भगवान् महावीर के परम पवित्र प्रवचन का आधार मनःकल्पना और अनुमान की भूमिका पर तो था ही नहीं। उनका तत्त्वज्ञान वास्तविकता पर अवलम्बित है। ऐसा कहना कोई अत्युक्ति न होगी कि उनका पदार्थ–विज्ञान और परमाणुवाद आधुनिक विज्ञान के (Atomic and moleculer—theories) अणुवाद की मान्यता से तो क्या परन्तु डाक्टर एन्स्टीन, एडिंगटन, स्पेन्सर, डॅल्टन और न्युटन की (theories) मान्यताओं को भी मात करता है। भारतीय तथा पाश्चात्य अनेक विद्वानों ने भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की भूरि–भूरि प्रशंसा की है।

जर्मन विद्वान डा० हर्मन जेकोबी कहते हैं कि :—

In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct from and independent of all others, and that, therefore it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in India.

अर्थात्—अंत में मुझे अपना निश्चित विचार प्रगट करने दो, मैं कहूंगा कि जैनधर्म के सिद्धान्त मूल सिद्धान्त हैं। वह धर्म स्वतन्त्र और अन्य धर्मों से सर्वथा भिन्न है। प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान का और धार्मिक जीवन का अभ्यास करने के लिये यह बहुत उत्तम है।

ऐसे सर्वोच्च आचरण तथा उपदेश करने वाले महान् तत्त्वज्ञानी,

करुणा के प्रत्यक्ष अवतार, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वयं मांसाहार कैसे कर सकते थे ? कदापि नहीं कर सकते थे।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि अन्य मांस-मत्स्यभक्षी बौद्ध, वैदिक आदि धर्मों के समान जैनधर्म भारत की सीमाओं को न लांघ सका। इसका मुख्य कारण यही है कि यह मत्स्य-मांसादि अभक्ष्य भक्षण का सदा से निषेध करता आया है। इसीलिये मांसाहारी देशों में इसका प्रसार न हो पाया।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि न तो भगवान् महावीर आदि जैन तीर्थंकर अथवा निर्ग्रंथ श्रमण मांसाहार ग्रहण कर सकते हैं और न ही श्रमणोपासक गृहस्थ (श्रावक–श्राविकाएं) मांस को खा अथवा पका सकते हैं। यही कारण है कि वर्त्तमान जैन समाज भी कट्टर निरामिषाहारी है तथा वे सराकादि जातियाँ भी जो सैकड़ों वर्षों से जैनधर्म को भूल चुकी हैं उनके ऊपर भी आज पर्यन्त जैन-तीर्थंकरों की अहिंसा की इतनी गहरी छाप है कि वे आज भी कट्टर निरामिषाहारी रहे है। मात्र इतना ही नहीं किन्तु जो लोग जैन समाज में होते हुए किसी भी प्रकार का व्रत ग्रहण नही करते वे भी मत्स्य–मांस जैसे अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नही करते।

तथागत गौतमबुद्ध, बौद्धभिक्षु तथा बौद्धगृहस्थ खुलमखुला मांसाहार करते थे इसी का परिणाम है कि आज भी सारा बौद्ध जगत् सर्व भक्षी है।

श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने "भगवान् बुद्ध" नामक पुस्तक में जिन जैन सूत्रों को लेकर यह सिद्ध करने की हास्यास्पद चेष्टा की है कि "भगवान् महावीर और उनके अनुयायी श्रमण मांसाहार करते थे"। उनके किए हुए अर्थ के साथ भगवान् महावीर की जीवनचर्या तथा उपदेशों (आचार-विचार) से बिलकुल मेल नहीं खाता। इस से यह स्पष्ट है कि उनके द्वारा किया हुआ इन सूत्रों का अर्थ ठीक नही है परन्तु इन का दूसरा ही अर्थ होना चाहिये।

वास्तव में बात यह है कि अध्यापक कौशाम्बी बौद्ध दर्शन के विद्वान

थे इसलिये तथागत बुद्ध के प्रति उन्हें अगाध श्रद्धा होना स्वाभाविक था। उन्होंने अपनी पुस्तक "भगवान् बुद्ध" में यह बात सिद्ध करने का भरसक प्रयत्न किया कि गौतम बुद्ध मांसाहारी नहीं थे। यह भी उल्लेख किया कि उस समय जैनादि उन पर मांसाहार का आक्षेप भी किया करते थे।

परन्तु जब कौशाम्बी जी तथागत बुद्ध और उसके भिक्षु संघ को निरामिषभोजी सिद्ध करने में असमर्थ रहे तब उन्होंने भगवान् महावीर और उनके श्रमण संघ पर भी मांसाहार का दोष लगाने की चेष्टा की। जैनागमों के सूत्रपाठों का विपरीतार्थ कर इस बात को सिद्ध करने की जो उन्होंने अनाधिकार चेष्टा की है उसके विषय में हम आगे चल कर विवेचन करेंगे। हमारी धारणा है कि उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि तथागत गौतम बुद्ध एवं उनके भिक्षु मांसाहारी होने से जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर, उनके निर्ग्रन्थ श्रमणों, व्रतधारी श्रावकों तथा अव्रति गृहस्थों से भी कहीं हीन न गिने जावें, इसलिए उन्होंने निर्ग्रन्थ परम्परा पर ऐसी अनुचित आक्षेप करने की चेष्टा की है। एक अंग्रेज लेखक ने ठीक ही कहा है कि "शारीरिक सन्तान (पुत्र-पुत्री आदि) से भी मानसिक सन्तान (अपने विचारों) पर मनुष्य को अधिक प्रेम होता है।" अपने अभिप्राय पर अयोग्य अनुराग, एकान्त आग्रह मनुष्य को सत्य की पहिचान करने में बड़ी बाधा उत्पन्न करते हैं।

सारांश यह है कि कौशाम्बी जी ने तथागत गौतमबुद्ध के मांसाहार के दोष को ढांकने के लिये ही यह असफल प्रयत्न किया है।

बुद्ध ने केवल अहिंसा का उपदेश दिया था परन्तु भगवान महावीर ने अहिंसा को मूल सिद्धान्त का दर्जा देकर चारित्र व्रत में सर्वप्रथम सम्मिलित किया। बौद्ध मत की अहिंसा थोथा उपदेश बन कर ही रह गयी। क्योंकि तथागत गौतम बुद्ध उसे अपने आचार और व्यवहार में न उतार सके। यदि उन्होंने अपने आचार और व्यवहार में उतारा होता तो बौद्ध जगत् कदापि मांसाहारी न होता। इस से स्पष्ट है कि वह अहिंसा धर्म के मर्म को समझ ही न पाये। भगवान् महावीर ने अपने

आचरण और उपदेश से जगत के सामने अहिंसा का इतना सुन्दर स्वरूप रखा कि आज भी जैन समाज पूर्ववत कट्टर निरामिषाहारी है। उन्होंने फरमाया कि किसी के असतित्व को न मिटाओ। जिस प्रकार प्राणिहिंसा दुर्गति का कारण है उसी प्रकार मांस भक्षण भी दुर्गति का कारण है। आप ने ऐसे धर्म को धर्म कहा जो सब प्राणियों का रक्षक हो और ऐसे धर्म को निर्वाण का राजमार्ग कहा।

१. प्रो० डी० सी० शर्मा अपनी पुस्तक 'हिन्दुइज़म में लिखते हैं :—

"Buddhism only teaches the doctrine of the sanctity of animal life, but Jainism not only taught it, but also put it into practice. A Buddhist may not kill or do injury to any creature himself, but apparently he is allowed to purchase meat from a butcher. A Jain on the other hand is bound to be a strict Vegetarian."

अर्थात्—बुद्ध धर्म केवल पशु के जीवन की रक्षा का ही उपदेश देता है। जैन धर्म ने केवल उपदेश ही नहीं दिया परन्तु उपदेश के साथ आचरण मे भी उतारा है। एक बौद्ध किसी पशु का स्वयं वध अथवा हिंसा चाहे न करे परन्तु उसे निःसंकोच कसाई की दुकान से मांस खरीदने की आज्ञा है। दूसरी ओर एक जैन निश्चयरूपेण दृढ़ शाकाहारी है।

मांस भक्षण से मात्र जैन ही अलिप्त रहे हैं

प्रो० ए० चक्रवर्ती एम० ० "तिरुकुरल" पुस्तक पृ० ३०-३१ में लिखते हैं कि :—

Meat eating, drinking wine and sexual intercourse, which are condemned by the *Jains* are accepted by the Kapalikas as a fundamental practice of their faith.

The *Buddhist* rejected the authority of the *Vedas*, yet they did not give up meat eating. *Buddhist* bhikshus and the laymen, though they observed the principle of

Ahimsa, were all meat eaters. They observed the principle of Non-violence only to this extent that they did not kill any animal with their own hands. They have no objection to purchase meat from the butchers so long as they do not themselves kill. Even while *Gautama Buddha* was alive, this practice was prevalent. This we learn from the Buddhist Scriptures. When that is the case with the Buddhist Bhikshus, the Buddhist laymen have no restriction in eating meat. If we are to mention a distinctive Characteristic of the *Jains*, we have to say that it is their strict Vegetarian diet. This distinguishes the *Jains* from Others.

From the *Vedic Dharam Shastras of* Manu, Bodhayana and the later law-makers belonging to Vedic schools, we notice the following, on the chapter Madhuparka, Bodhayana gives a list of 25 or 26 animals that are to be killed.

Another prominent fact about the *Dharma Shastras af Vedic* school is the place given to agriculture in the scheme. Agriculture is considered to be the meanest profession and only the *Sudras* of the fourth *Varna* are fit to be engaged in this profession. It is beneath the dignity of the *Dvijas* to engage themselves in agricultural occupation. Certainly the priests of the *higher Varna* cannot think of touching the plough.

अर्थात् :—जिन मांस भक्षण, मदिरापान तथा व्यभिचार का जैनों ने निन्द्य मान कर त्याग किया था, उन्हें कापालिकों ने श्रद्धा से मूल सिद्धान्त रूप से स्वीकार किया था। यानी उन्होंने मांसाहार, मदिरापान तथा व्यभिचार सेवन को धर्म रूप स्वीकार किया था।

बौद्धों ने वेदों को तो प्रामाणिक नहीं माना किन्तु मांस भक्षण का त्याग नहीं किया। बौद्ध भिक्षु तथा बौद्ध गृहस्थ अहिंसा के सिद्धान्त

को स्वीकार करते हुए भी मांसाहारी थे। वे अहिंसा को इस रूप से मानते थे कि पशुओं की स्वयं हत्या नहीं करना। परन्तु उन्हें कसाई के वहां से ऐसा मांस खरीदने में कोई आपत्ति नहीं थी, जिसे उन्होंने स्वयं न मारा हो ; बौद्ध ग्रंथों से हम ऐसा जान सकते हैं। जब तथागत गौतम बुद्ध स्वय विद्यमान थे तब भी यह प्रथा प्रचलित थी। जब बौद्ध भिक्षु इस प्रकार (बे रोक-टोक) मांसाहार करते थे तब बौद्ध गृहस्थों को भी मांसभक्षण का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। यदि बौद्धों से जैनों की कोई मौलिक विशेषता खोजने जावे तो हमें यह निःसंदेह कहना पड़ेगा कि जैन कट्टर शाकाहारी हैं।

हम वैदिक धर्मानुयायी मनु, बोधायन तथा उनके बाद के वैदिक सिद्धान्त निर्माताओं के धर्मशास्त्रों में से नीचे लिखे विचार पाते हैं :—

मधुपर्क मे बोधायन ने २५ या २६ ऐसे पशुओं की सूची दी है, जो कि (मासाहार के लिये) वध करने योग्य हैं।

वैदिक धर्मशास्त्रों में एक और विशेष बात यह भी पायी जाती है कि उन्होंने खेती-बाडी को एक निकृष्ट कार्य मान कर उसे चौथे वर्ण यानी शूद्रों के करने के योग्य बतलाया है। द्विजों ने खेती-बाड़ी के धंधे को स्वय करना अपनी हीनता माना है। मात्र इतना ही नही परन्तु ऊंचे वर्णों के धर्मप्रचारको ने तो हल को छूने तक का विचार मात्र करना भी नितान्त अनुचित माना है।

साराश यह है कि वैदिक धर्मानुयायी मांसभक्षण को उत्तम मानते थे तथा खेती-बाड़ी को निकृष्ट। जैनो ने मांस भक्षण को एक दम त्याज्य माना और खेती-बाड़ी को जैन श्रमणोपासकों (श्रावकों) के लिये त्याज्य नहीं माना। उपासकदशांग जैनागम में भगवान् महावीर के जिन दस श्रावकों का चरित्र चित्रण किया गया है, उनका मुख्य व्यवसाय प्रायः खेती-बाड़ी ही था।

[१]

तथागत गौतम बुद्ध द्वारा निर्ग्रंथ-चर्या में मांस-भक्षण निषेध

हम लिख चुके है कि बुद्ध के समय में सब से बड़े श्रमण संघ छः थे। इन सब में निर्ग्रन्थों (जैनों) का नाम ही सर्वप्रथम आता है। वे राजगृह में अथवा उसके आस-पास के क्षेत्रों में अधिक संख्या में निवास करते थे।

गौतम बुद्ध संसार छोड़कर निर्वाण मार्ग जानने के लिये योगियों के शिष्य बने। बौद्ध ग्रंथ "ललितविस्तर" में लिखा है कि बोधिसत्त्व (गौतम बुद्ध) पहले वैशाली गये और वहां आलार कालाम के शिष्य बने। वे योगी बड़े ज्ञानी थे और जाति के ब्राह्मण थे। बुद्ध ने उनके पास से योग की बातें सीखी, तप भी किया, किन्तु उससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ, तब बुद्ध ने उन्हें छोड़ दिया। बौद्ध ग्रंथ "मज्झिमनिकाय" के "महासिंहनाद सुत्त" में बुद्ध की तपस्चर्या का वर्णन है। उन्होंने अनेक प्रकार की तपश्चर्याएं कीं और छोड़ीं। अन्त में बोधिसत्त्व ने उस समय के श्रमण व्यवहार के अनुसार तीव्र तपश्चर्या करने का निश्चय किया और प्रसिद्ध श्रमण नायकों का तत्त्वज्ञान जान लेने के उद्देश्य से राजगृह गये। वहां सब श्रमण सम्प्रदायों में न्यूनाधिक मात्रा में तपश्चर्या दिखलायी देने से उन्हें ऐसा लगा कि उन्हें भी वैसी ही तपश्चर्या करनी चाहिये। इसलिये "सुत्तनिपात" के "पब्बज्जा सुत्त" की अन्तिम गाथा में बुद्ध स्वयं कहते हैं कि अब मैं तपश्चर्या के लिये जा रहा हूँ। उस समय राजगृह के चारों ओर जो पहाड़ियाँ हैं उन पर निर्ग्रंथ (जैन) श्रमण तपश्चर्या करते

थे ऐसा उल्लेख जैनागमों में तथा बौद्ध पिटकों में अनेक स्थलों पर मिलता है।

निर्ग्रंथ संप्रदाय के ऐतिहासिक नियामक तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ जी थे। इनका निर्वाण बुद्ध के जन्म से पूर्व १९३ वर्ष में हुआ था। उनकी शिष्यपरम्परा के निर्ग्रंथों का अस्तित्व उस समय राजगृह में सर्वाधिक था।

तथागत गौतम बुद्ध, निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) से प्रथम पैदा हुए और प्रथम ही परिनिर्वाण प्राप्त किया। यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से अब सिद्ध हो चुकी है। भगवान महावीर तथा गौतम बुद्ध समकालीन थे तथा उन दोनों के अपने-अपने धर्म-प्रचार का क्षेत्र एक ही रहा। कई वर्षों तक एक दूसरे से मिले बिना वे दोनों अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे।

बुद्ध ने निर्ग्रंथों के तपःप्रधान आचारों की अवलेहना की है, ऐसा वर्णन बौद्ध पिटकों में पाया जाता है। परन्तु बुद्ध ने खुद अपनी बुद्धत्वप्राप्ति के पहले की तपश्चर्या और चर्या का जो वर्णन किया है उसके साथ तत्कालीन निर्ग्रंथ आचार का जब हम मिलान करते हैं तथा कपिलवस्तु के निर्ग्रंथ श्रावक "बप्प शाक्य", जो कि भगवान पार्श्वनाथ के निर्ग्रंथ श्रमणों का उपासक था, उस का निर्देश सामने रखते हैं (सुत्त की अट्ठकथा में बप्प को गौतम बुद्ध का चाचा कहा है) एवं बौद्ध पिटकों मे पाये जाने वाले खास आचार और तत्त्व-ज्ञान सम्बन्धी कुछ पारिभाषिक शब्द जो केवल निर्ग्रंथ प्रवचन में ही पाये जाते हैं इन सब पर विचार करते हैं तो ऐसा मानने में कोई सन्देह नहीं रहता कि "तथागत गौतम बुद्ध" ने भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा को स्वीकार किया था। अध्यापक धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी अपनी अन्तिम पुस्तक "पार्श्वनाथा चा चातुर्याम धर्म" (पृष्ठ २४, २६) में ऐसी ही मान्यता सूचित की है।

गौतम बुद्ध "सारिपुत्त" से कहते हैं कि "मैं बताता हूँ कि मेरी तपस्विता कैसी थी":—

"मैं नंगा रहता था। लौकिक अचारों का पालन नहीं करता था। हथेली पर भिक्षा ले कर खाता था। अगर कोई कहता कि 'भदन्त', इधर आइये' तो मैं नहीं सुनता था। बैठे हुए स्थान पर ला कर दिये हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किये हुए अन्न को और निमंत्रण को मैं स्वीकार नहीं करता था। जिस बर्तन में अन्न पकाया गया हो उसी बर्तन में अगर वह अन्न लाकर मुझे दिया जाता तो मैं उसे ग्रहण नहीं करता था। देहरी या डण्डे के उस पार रह कर दी गयी भिक्षा को मैं नहीं लेता था। ओखली में से अगर कोई खाने का पदार्थ ला कर दिया जाता तो मैं उसे ग्रहण नहीं करता था। दो व्यक्ति भोजन कर रहे हों और उन में से एक उठ कर भिक्षा दे तो मैं उसे ग्रहण नहीं करता था। गर्भिणी, बच्चे को स्तन-पान कराने वाली या पुरुष के साथ एकान्त सेवन करने वाली स्त्री से भी मैं भिक्षा नहीं लेता था। मेले या तीर्थ-यात्रा में तैयार किये गये अन्न की भिक्षा मैं नहीं लेता था। जहाँ कुत्ता खड़ा हो या मक्खियों की भीड़ और भिनभिनाहट हो वहां भिक्षा नहीं लेता था। मत्स्य, माँस, सुरा आदि वस्तुएँ नहीं लेता था। एक ही घर से भिक्षा लेकर एक ही ग्रास पर मैं रहता था। या दो घरों से भिक्षा ले कर दो ग्रासों पर रहता था और इस प्रकार सात दिन तक बढ़ाते हुए सात घरों से भिक्षा ले कर सात ग्रास खा कर मैं रह जाता था। मैं एक कलछा भर अन्न भी लेता था और इस प्रकार सात दिन तक सात कलछे अन्न ले कर उस पर निर्वाह करता था। एक दिन छोड़ कर यानी हर तीसरे दिन भोजन करता था। इस प्रकार उपवासों की संख्या बढ़ाते-बढ़ाते सप्ताह में एक बार या पखवाड़े में एक बार भोजन किया करता था।

"मैं दाढ़ी मूँछें और बाल उखाड़ डालता था। मैं खड़ा रह कर तपस्या करता था अकड़ बैठ कर तपस्या करता था।

"अनेक वर्षों की धूल से मेरे शरीर पर मैल की परतें जम गयी थीं।

जैसे कोई तिन्दुक वृक्ष का तना अनेक वर्षों की धूल से भर जाता है, मेरी देह वैसी हो गयी थी। पर मुझे ऐसा नहीं लगता था कि धूल की परतें में स्वयं झाड़ लूं या दूसरा कोई व्यक्ति मुझे हाथ से निकाल दे।

"मैं बड़ी सावधानी से आता जाता था। पानी की बूंदों पर भी मेरी तीव्र दया रहती थी। ऐसी विषम अवस्था में फंसे हुए सूक्ष्म प्राणी का भी नाश मेरे हाथों से न हो जावे इसके लिए मैं बहुत सावधानी रखता था। ऐसी मेरी जुगुप्सा (हिंसा के प्रति अरुचि) थी।

"मै किसी भयावने जंगल में रहता था। जो कोई सांसारिक प्राणी उस अरण्य में प्रवेश करता, उसके रोंगटे खड़े हो जाते थे, वह इतना भयंकर होता था। जाड़ों में भयानक हिमपात होने के समय में खुली जगह में रहता था और दिन में जंगल में घुस जाता था। गर्मी के मौसम के अन्तिम महीने में दिन के समय खुली जगह में रहता था और रात को जंगल में चला जाता था।" (ध० को० कृत भगवान् बुद्ध पृष्ठ ६८–७१)

इस तपस्या के बारे में गौतम बुद्ध स्वयं कहते हैं—"मेरा शरीर (दुर्बलता की) चरम सीमा तक पहुंच गया था। जैसे अस्सी वर्ष वाले की गांठें, वैसे ही मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग हो गये थे। जैसे ऊंट के पैर वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया था। जैसे सूओं की (ऊंची-नीची) पांती वैसे ही पीठ के कांटे हो गये थे। जैसे शाल की पुरानी कड़ियाँ टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है, वैसी ही मेरी पांसुलियां हो गयी थीं। जैसे गहरे कुएं में तारा वैसे ही मेरी आँखें दिखाई देती थी। जैसे कच्ची तोड़ी हुई कड़वी लौकी हवा धूप मे चुचक जाती है, मुर्झा जाती है, वैसे ही मेरे सिर की खाल चुचक-मूर्झा गयी थी। उस अनशन से मेरे पीठ के काँटे और पैर की खाल बिल्कुल सट गयी थी। यदि मै पाखाना या पेशाब करने के लिए उठता तो वहीं बहरा कर गिर पड़ता। जब मैं काया को सहराते हुए हाथ से गात्र को मसलता तो काया से सड़ी जड़ वाले रोम झड़ पड़ते। मनुष्य कहते, श्रमण गौतम काला है, कोई कहते मँगुर वर्ण है। मेरा

वैसा परिशुद्ध गौरे चमड़े का रंग नष्ट हो गया था।" (वही पृ० ३४८)

मुझे लगा कि:—"देह दंडन दुःखकारी है, धीर-वीरों को शोभा देने लायक नहीं है, अनर्थवाह है (दुक्खो अनरियो अनत्थ संहितो)। और मैंने स्थूल आहार ग्रहण करना प्रारंभ कर दिया।"

अन्त में बोधिसत्त्व के मन ने यह निश्चय किया कि तपश्चर्या बिलकुल निरर्थक है। अतः तपश्चर्या का त्याग कर दिया।

इस उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि गौतम बुद्ध ने घर से निकलने के बाद 'आलार कालाम' आदि योगियों के पास रहकर उन के हठयोग की क्रियाएँ सीखीं तथा उनकी मान्यताओं के अनुसार तप आदि भी किये, किन्तु जब वह वहाँ से ऊब गये तो दूसरे धर्म सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। इस प्रकार छः सात वर्षों तक अनेक धर्म संप्रदायों मे दीक्षित होकर छोड़ते गये। अर्थात् पूर्व-पूर्व गुरुओं की चर्या तथा तत्त्व का मार्ग छोड़ कर अपनी विचारधारा से एक नये संप्रदाय की स्थापना की। वह संप्रदाय आज बुद्धधर्म के नाम से प्रसिद्ध है।

—०—

बौद्ध-जैन संवाद में मांसाहार निषेध

जैनागम सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुत स्कन्ध के छठे अध्ययन में एक प्रसंग आता है जो इस प्रकार है:—

श्रमण भगवान् महावीर का चतुर्मास राजगृह में था। चतुर्मास के बाद भी भगवान् राजगृह में धर्मप्रचारार्थ ठहरे। उस सतत प्रचार का आशातीत फल हुआ।

एक बार भगवान् के शिष्य आर्द्रकमुनि भगवान् को वन्दन करने के लिए गुणशील चैत्य में जा रहे थे। रास्ते में उनका शाक्यमुनि के भिक्षु से इस प्रकार वार्तालाप हुआ। उस वार्तालाप में जीवहिंसा और माँसाहार सम्बन्धी जैनों का क्या सिद्धान्त है, इसका भी खुलासा आर्द्रकमुनि ने किया है जो कि इस प्रकार है:—निर्ग्रंथ आर्द्रकमुनि ने शाक्यमुनि के भिक्षु से कहा कि:—

"जीवों की खुले आम हिंसा करना सयतों (मुनियों) के लिए सर्वथा अयोग्य है। जो ऐसे कामों का उपदेश देते हैं और जो उसे सुन कर उचित समझते हैं वे दोनों अनुचित काम करने वाले हैं।

"महाशय! इस सिद्धान्त से तो तत्त्वज्ञान नहीं पा सकते, लोक को करामलकवत् प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। भिक्षुजन! जो श्रमण शुद्ध आहार करते है, जीवों के कर्मविपाककी चिन्ता करते हुए आहार-विधि के दोषों को टालते है और निष्कपट वचन बोलते हैं, वे ही संयत हैं और यही संयतों का धर्म है।

"जिनके हाथ लहू में रंगे हैं, ऐसे असंयत मनुष्य दो हजार बोधिसत्त्व (बौद्ध) भिक्षुओं को नित्य भोजन कराते हुए भी यहाँ निन्दा के पात्र

बनते हैं और परलोक में दुर्गति के अधिकारी बनते हैं। और जो यह कहते हैं कि बड़े बकरे को मारकर और मिर्च-पीपर डाल कर तैयार किये हुए माँस के भोजन के लिए कोई निमंत्रण दे तो हम उस मांस को खा सकते हैं और उस में हमें कोई पाप नहीं लगता, वे अनार्यधर्मी और रसलोलुपी हैं। भोजन करने वाले पाप को न जानते हुए भी पाप का आचरण करते है। जो कुशल पुरुष है वे मन से भी ऐसे आहार की इच्छा नहीं करते और न ही ऐसे मिथ्या वचन बोलते हैं।

"जैन मुनि सब जीवों को दया की खातिर पाप-दोष का वर्जन करते हुए दोष की शंका से भी ऐसे आहार को ग्रहण नही करते। संसार में संयतों का ही धर्म है। इस आहारशुद्धि रूप समाधि और शील गुण को प्राप्त कर जो वैराग्य भाव से निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) धर्म का पालन करते हैं, वही तत्त्वज्ञानी मुनि इस लोक में कीर्ति प्राप्त करते है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ श्रमण सदा इस बात की सावधानी रखते हैं कि उनके द्वारा छोटे-से-छोटे किटाणु की भी हिंसा न हो। इसीलिये वे रात्रि को भोजन भी नहीं करते यानी सूर्यास्त के बाद वे कोई वस्तु खाते पीते नहीं। रात्रि को दीपक भी नहीं जलाते, इसलिये कि उस पर पतंगों के गिरने की सम्भावना रहती है। वे उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते सब अवस्थाओं में सदा इस बात की सावधानी रखते हैं कि किसी भी प्रकार से बड़े से लेकर छोटे-से-छोटे जीव-जन्तु की भी हिंसा न हो जाय। वे वर्षा ऋतु में ग्रामान्तर नहीं जाते, एक ही नगर अथवा ग्राम में वास करते हैं, क्योंकि इस ऋतु में असंख्य सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाने से ग्रामान्तर जाने-आने से हिंसा होना सम्भव है। वे छ. जीवनिकाय की यत्न पूर्वक रक्षा करते हैं।

इसी स्तम्भ में निग्रन्थ मुनि आर्द्रक के संवाद में यह भी स्पष्ट वर्णन है कि उन्होंने बौद्ध भिक्षु को मांसाहार में दोष बतलाते हुए बतलाया है प्राण्यंग मासाहार करने वाला व्यक्ति न तो संयमी ही बन सकता है और

न वह ज्ञानवान् ही कहला सकता है एवं न वह स्वपर का कल्याण ही कर सकता है। ऐसी अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति भी कभी नहीं हो सकती।

निर्ग्रन्थ श्रमण के लिये नव कोटिक (हिंसा करना नहीं, कराना नहीं और करने वाले को भला जानना नहीं। मन से नही करना, वचन से नहीं करना और काया से नहीं करना इत्यादि। इस प्रकार ३ × ३ = ९ कोटिक) अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या को व्यवहार में लाने के लिये बाह्य प्रवृत्ति को विशेष नियन्त्रित कर जीवहिंसा तथा मांसाहार आदि का सर्वथा निषेध किया है। निर्ग्रन्थ श्रमणों की चर्या सदा से ही उग्र चली आ रही है और उनके त्याग, संयम, तप तथा अहिंसा का स्वरूप अनुपम एवं अलौकिक रहता आया है। इसलिए उसके चारित्र की गहरी छाप तत्कालीन जनता पर पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण है कि निर्ग्रन्थ श्रमणों की चर्या का उस समय के मानव समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव था, जिससे आकर्षित होकर शाक्य मुनि गौतम बुद्ध ने पार्श्वापत्य निर्ग्रन्थ परम्परा में दीक्षा ग्रहण की तथा उनके तत्त्वज्ञान को जाना। उन्होंने अपनी निर्ग्रन्थचर्या में प्रवेश करने से पहले स्पष्ट लिखा है कि—"**मैं प्रसिद्ध श्रमण नायकों का तत्त्वज्ञान जान लेने के उद्देश्य से राजगृह जाता हूँ।**" वहाँ जाकर निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित होकर जिस चर्या का उन्होंने आचरण किया है उसमें उन्होंने इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख किया है कि—"**उस अवस्था में मैं मत्स्य-मांस-मदिरा आदि का सेवन नहीं करता था।**" इससे यह स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ आचार-विचार में प्राण्यंग मत्स्य-मांसादि के भक्षण का सर्वथा निषेध है।

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए अगले खण्ड में हम निम्नलिखित मुद्दों पर विचार करेंगे, जिससे यह बात स्पष्ट फलित हो जायगी कि भगवान् महावीर का तथा जैन निर्ग्रन्थ श्रमणों का मांसाहार करना कदापि संभव नहीं हो सकता, अतः इन सूत्रपाठों के शब्दों का सामिषाहार अर्थ करना नितान्त अनुचित ही है।

अगले खंड में निम्नलिखित मुद्दों पर विचार करेंगे :—

१—भगवान महावीर के औषध सेवन वाले विवादास्पद सूत्रपाठ के अर्थ के लिये जैन विद्वानों के मत।

२—भगवान महावीर को इस औषधदान देने पर दिगम्बर जैनों का मत।

३—जैन तीर्थंकर का आचार।

४—निर्ग्रन्थ श्रमण का आचार।

५—निर्ग्रन्थ श्रमणोपासकों (गृहस्थों) का आचार।

६—औषध सेवन करने वाले, लाने वाले तथा बनाने वालों के जीवन।

७—मांसाहारी प्रदेशों में रहने वाले जैनों का भूतकाल तथा वर्त्तमान काल में जीवनसंस्कार।

८—तीर्थांतरिकों द्वारा जैनधर्म सम्बन्धी आलोचना मे मांसाहार के आक्षेप का अभाव।

९—तथागत गौतम बुद्ध का निर्ग्रन्थ तपश्चर्या करते समय मांसाहार को ग्रहण न करने का वर्णन।

१०—भगवान् महावीर का रोग और उसके निदान के लिये योग्य औषध।

११—विवादास्पद प्रकरण वाले पाठ में आने वाले शब्दों के वास्तविक अर्थ।

द्वितीय खण्ड

निग्गंठ नायपुत्त श्रमण भगवान् महावीर पर मांसाहार के आक्षेप का निराकरण

महाश्रमण भगवान् महावीर स्वामी पर मांसाहार के आरोप का निराकरण

जैनों के पाँचवें अंग श्री भगवतीसूत्र के जिस पाठ का अर्थ करते हुए श्रमण भगवान् महावीर को मांसाहारी सिद्ध करने की जो अनुचित चेष्टा की गयी है उसके विषय में इस विचित्र कल्पना का निरसन करना नितान्त आवश्यक है, जिससे पाठक वास्तविकता को समझ सके।

भगवती सूत्र के पन्द्रहवे शतक में गोशालक का वर्णन आता है। उसका संक्षिप्त सारांश यह है:—

गोशालक पहले भगवान् महावीर का शिष्य था और भगवान् के साथ लग-भग छ: वर्षों तक रहा। अलग होने के बाद उसने तेजोलेश्या सिद्ध की तथा अष्टाङ्ग निमित्त का अभ्यास करके अपने आप को सर्वज्ञ होने की उद्घोषणा की। एक बार वह श्रावस्ती नगरी में आया और वहा अपने आप को सर्वज्ञ रूप में प्रसिद्ध करने लगा। जनता मे इस बात की चर्चा होने लगी। बाद मे उसी नगरी में भगवान् महावीर स्वामी पधारे। नगर निवासियों ने गोशालक की सर्वज्ञता की बात भगवान् महावीर के मुख्य शिष्य श्री इन्द्रभूति गौतम स्वामी से पूछी। गौतम स्वामी ने प्रभु महावीर से पूछा। तब प्रभु ने गोशालक की सारी जीवन-कथा कह सुनायी तथा गोशालक ने सर्वज्ञत्व (जिन पद) प्राप्त नहीं किया यह भी कहा। गोशालक का यह जीवनचरित्र लोगों में चर्चा का विषय बन गया। यह बात गोशालक के कानों तक भी पहुंची तब वह बहुत क्रोधित हुआ। क्रोध से जला भुना एक बार वह प्रभु महावीर स्वामी

के पास आया और वहाँ अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाने का प्रयत्न किया। तब भगवान् ने जो ठीक बात थी, उसे कहा। इससे वह और भी क्रोधित हो गया। यह देखकर उसे दो साधु समझाने गये तब उसने उनपर तेजोलेश्या छोड़कर उन्हें जलाकर भस्म कर दिया। भगवान् ने उसे समझाया परन्तु परिणाम उल्टा निकला।

उसने भगवान् पर भी तेजोलेश्या छोड़ी। यह तेजोलेश्या भगवान् को स्पर्श करके वापिस गोशालक के शरीर में प्रवेश कर गयी और उस तेजोलेश्या की जलन से गोशालक सातवी रात्रि को पित्तज्वर के दाह से मृत्यु को प्राप्त हो गया।

इस तेजोलेश्या के स्पर्शमात्र से भगवान् महावीर को पित्तज्वर तथा लहू के दस्त (पेचिश) होने लग गये। यह देखकर प्रजा को तथा अनेक साधुओं को बहुत चिन्ता हो गयी और सर्वत्र यह बात फैल गयी कि भगवान् महावीर छः मास में देह त्याग देंगे। जिसको प्रभु पर अत्यन्त राग था ऐसा सिंह नाम का अणगार (जैन श्रमण) जो जंगल में ध्यान कर रहा था, उसने भी वहां यह बात सुनी। वह दुःखी होकर फूट-फूट कर रोने लगा। भगवान् ने अपने ज्ञान द्वारा इस बात को जान कर सिंह मुनि को दूसरे साधु द्वारा अपने पास बुलाया और उसे सान्त्वना दी। जनता तथा मुनिजनों की चिन्ता को दूर करने के लिए भगवान् ने सिंह मुनि से कहा—

हे सिंह! तुम मेंढिक ग्राम नगर में जाओ; वहाँ गृहपति की पत्नी रेवती ने दो पाक तैयार किए हुए हैं। उनमें एक मेरे लिए बनाया है तथा दूसरा अपने घर के लिये बना कर रखा हुआ है। जो पाक मेरे लिए बनाया है उससे प्रयोजन नहीं (वह मत लाना)। परन्तु जो दूसरा उसने अपने लिए बना कर रखा हुआ है उसे ले आओ।"

भगवान् ने वह पाक आसक्ति से रहित होकर खाया और पीड़ा शांत हुई।

यहाँ उपर्युक्त दो पाकों के लिए जो शब्द शास्त्रकार ने लिखे हैं उनके बारे में किसी को भी आपत्ति नहीं है, वे तो सबको मान्य हैं। परन्तु उन शब्दों के अर्थ में आपत्ति है। वे शब्द विवादग्रस्त है, स लिए इसकी चर्चा करके इसका निर्णय करने की आवश्यकता है।

(१)

विवादास्पद सूत्रपाठ और उसके अर्थ के लिये जैन विद्वानों के मत

सूत्र में वर्णित मूल पाठ :—

"तं गच्छह णं तुमं सीहा ! मेंढियगामं नगरं रेवतीए गाहावतिणीए गिहे, तत्थ णं रेवतीए गाहावइणीए ममं अट्ठाए दुवे कवोय-सरीरा उवक्खडिया, तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जार-कडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि, एएणं अट्ठो। (भगवती सूत्र शतक १५)

(क)

जैन शास्त्रो में से नवाँगों (नौ आगमों) के टीकाकार महान् समर्थ विद्वान आचार्य अभयदेवसूरि ने क्रमशः अग सूत्रों पर टीका रची है। तृतीयाँग-ठाणाँग जी सूत्र की टीका करते हुए उसके नवमे ठाणे में प्रभु महावीर के समय मे नव (९) जनों ने तीर्थंकर नामकर्म बाँधा इसका वर्णन आया है। उन नौ जनों ने किस-किस कारण से तथा क्या करने से तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया ऐसा पाठ है[1] उनमें से गृहपति की भार्या रेवती भी एक है। उपर्युक्त विवाद वाला आहार प्रभु को देने के कारण रेवती ने तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया था ऐसा पाठ है। उस प्रसंग का उल्लेख करते हुए नवांगीटीकाकार अभयदेवसूरि ने इस विवाद वाले सूत्रपाठ का इस प्रकार अर्थ किया है :—

"ततो गच्छ त्वं नगरमध्ये तत्र रेवत्यभिधानया गृहपतिपत्न्या, मदर्थं

१—इस पाठ का उल्लेख हम आगे करेंगे।

द्वे कूष्मांडफलशरीरे उपस्कृते, न च ताभ्यां प्रयोजनं, तथाऽन्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारकं कुक्कुटमांसकं —बीजपूरककटाहमित्यर्थः, तदाहर तेन नः प्रयोजनमिति।"

(ठाणांग सू० १९१)

अर्थात्—"तुम नगर मे जाओ, रेवती नाम की गृहपति की भार्या ने मेरे लिए दो कूष्माण्ड फल (पेठे) संस्कार करके तैयार किये हैं, उनका प्रयोजन नहीं, परन्तु उसके घर मे मार्जार नामक वायु की निवृत्ति करने वाला बीजोरे फल का गूदा है, वह ले आओ। उसका मुझे प्रयोजन है। (ठाणाग सूत्र सं० १९१)

इस उपर्युक्त अर्थ मे यह बात स्पष्ट है कि ठाणाग जी सूत्र में इन शब्दों का अर्थ श्रीअभयदेवसूरि ने स्पष्ट रूप मे वनस्पतिपरक किया है इसलिये यही अर्थ यथार्थ रूप मे उन्हे मान्य था।

(ख)

इन्हीं टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने ठाणागजी की टीका लिखने के बाद पंचमाग "भगवती जी" सूत्र की टीका वि० सं० ११२८ मे लिखी। इसमे गोशालक के प्रसगवाले पन्द्रहवें शतक मे भी जो उन्हे स्वय मान्य अर्थ था वही किया। किन्तु एक निष्पक्ष टीकाकार होने के नाते उनके समय मे कोई-कोई व्यक्ति इन शब्दों मे से स्थूल दृष्टि से फलित होने वाले प्राणीवाचक अर्थ भी मानते होगे यह बतलाने के लिए उन्होंने यह बात भी अपनी टीका मे लिखी। ऐसा लिखते हुए भी यह बात उन्हे स्वयं मान्य नही थी। यदि यह बात उन्हे मान्य होती तो वे "**श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते**"—ऐसा न लिखते किन्तु इस अर्थ की चर्चा करके स्पष्ट करने की चेष्टा करते। न तो उन्होंने ऐसी कोई चर्चा ही की है और न ही ऐसा अर्थ किया है। इससे यह स्पष्ट है कि उन्हें स्वयं इन शब्दों का अर्थ प्राणीवाचक मान्य नहीं था यह निश्चित है। उन्हे स्वय जो अर्थ मान्य था उसी का उल्लेख उन्होंने ठाणांग जी में किया

है तथा यहां भी वैसा ही अर्थ किया है। इसलिए वनस्पतिपरक अर्थ ही वास्तविक है।

श्री भगवती सूत्र के विवादास्पद सूत्रपाठ की टीका

"दुवे कवोया" इत्यादेः—श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते। अन्ये त्वाहुः कपोतकः—पक्षिविशेषस्तद्वद् ये फले वर्णसाधर्म्यात्ते कपोते कूष्मांडे, ह्रस्वे कपोते कपोतके ते च ते शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे अथवा कपोतकशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतक-शरीरे कूष्माण्डफले एव ते उपस्कृते—संस्कृते 'तेहिनो अट्ठो' त्ति बहु-पापत्वात्। 'पारिआसिए' त्ति परिवासितं ह्यस्तनमित्यर्थः इत्यादेरपि केचित् श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते। अन्येत्वाहु—'मज्जारकडए' मार्जारो वायुविशेषस्तदुपशमनाय कृतं संस्कृतं मार्जारकृतं अपरे त्वाहु—मार्जारो—विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृतं—भावितं यत्तथा, किं तत् ? इत्याह—'कुर्कुटकमांसकं' बीजपूरकं कटाहम् 'आहराहि' त्ति निरवद्य-त्वादिति।

अर्थात्—इस लिये हे सिंह! तुम मेढिक ग्राम नाम के नगर मे गृह-पति की भार्या रेवती के घर जाओ। वहा उस ने मेरे लिये (कोई-कोई दुवे कवोय सरीरा का प्राणीपरक अर्थ भी मानते है परन्तु अन्य कहते हैं कि) दो कुष्माण्ड फल (पेठे के फल) तैयार किये है, उन से मुझे प्रयोजन नहीं, क्यों कि इसे लाना बहुत दोष का कारण है (निर्ग्रंथ श्रमण के निमित्त जो आहार तैयार किया जाता है ऐसा आहार जैन साधु को लेना नही कलपता इस लिये ऐसा आधाकर्मी पेठे का पाक जो श्रमण भगवान् महावीर के निमित्त बनाया गया था, उसे लाने के लिये मना कर दिया); परन्तु इस के इलावा दूसरा जो पाक उन्होंने अपने लिये पहले का बना कर रखा हुआ है, 'वह मज्जारकडए' (इस के लिये भी ऐसा सुना है कि कोई-कोई इस का प्राणीपरक अर्थ मानते हैं परन्तु अन्य सब ऐसा मानते हैं) यानी

मार्जार नामक वायु को शान्त करने वाला, अन्य आचार्यों का कहना है कि विरालिका नामक वनस्पति से भावना किया हुआ बीजोरापाक है, उसे ले आओ, उस से मुझे प्रयोजन है।

श्रीअभयदेवसूरि ने इस उपर्युक्त टीका (वृत्ति) में लिखा है कि सुनते हैं कि कोई-कोई '**दुवे कवोयसरीरा और मज्जारकडए कुक्कुड मंसए**, का अर्थ प्राणीपरक करते है। इस से यह बात तो स्पष्ट है कि अन्य जैनाचार्य और उस समय के आम विद्वान् इन शब्दो का अर्थ वनस्पतिपरक करते थे और यही अर्थ आचार्य श्रीअभयदेवसूरि को भी मान्य था। हमारी इस धारणा की पुष्टि (१) ठाणाग सूत्र की गृहपति की भार्या रेवती के परिचय मे मूल पाठ की टीका है। (२) इस पाठ से भी स्पष्ट है कि कोई-कोई ऐसा अर्थ भी करते हैं। यदि उन का अपना भी यही मत होता तो वे 'सुना है' ऐसा न लिख कर इन शब्दों का प्राणीपरक अर्थ करके वनस्पतिपरक अर्थ के साथ 'श्रूयमाणमेवार्थ' लिखते। इस से भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य अभयदेव को भी वनस्पतिपरक अर्थ ही मान्य है। (३) इस पाठ के विषय मे इन शब्दो का मांसपरक अर्थ किसी भी अन्य उपलब्ध टीकाओं मे नहीं मिलता। (४) इन शब्दो के अर्थ वनस्पतिपरक ही होना चाहिये और यही अर्थ ठीक है इस विषय की पुष्टि के लिये हम अन्य जैनाचार्यों के मत भी दे देना उचित समझते हैं।

(ग)

विक्रम सवत् ११६१ पाटण में कर्णदेव के राज्य समय मे जैनाचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने प्राकृत भाषा मे तीन हजार श्लोकप्रमाण 'महावीर चरित्र' रचना की है, जो ग्रंथ आत्मानन्द ग्रंथ रत्न माला ग्रंथ नं० ५८ भावनगर की जैन आत्मानन्द सभा की तरफ से वि० सं० १९७३ में प्रकाशित हुआ है। उसके पत्र ८४ में यह अधिकार गाथा नं० १९३० से ३५ तक इस प्रकार वर्णन है।

"ता गच्छ तुमं मिंढियगामं मग्गाहि रेवई मज्झं।
गाहावईण कज्जे पज्जुसियं ओसहं कप्पं ॥१९३०॥

सीहो य गओ तीए गेहं अब्भुट्ठिओ य हिट्ठाए ।
सत्तट्ठ पए अहिगम्म, वंदिओ परमभत्तीए ॥१९३१॥
भणिओ साहेहि तुमं देवाणुपिया इहागमणकज्जं ।
तेण य भणियं अज्जे ! अमुगं पज्जुसियं ओसहं अत्थि ॥१९३२॥
तुज्झ गिहे तं वियरसु, सा भणई इमं रहस्सनिम्मवियं ।
कह भणसि तुमं ? कहियं केवलिणा वीरनाहेण ॥१९३३॥
तं सोउं सा तुट्ठा वियरइ सीहस्स ओसहं तं तु ।
दव्वाइविसुद्धेणं ओसह-दाणेण सा तेण ॥१९३४॥
देवाउयं निबंधई, परित्तससारियत्तणं कुणई ।
दिव्वाणि तत्थ पंच य पाउब्भूयाणि सयराहं ॥१९३५॥

भावार्थ—[हे सिंह!] तुम मेंढिक ग्राम मे जाओ। रेवती के पास जाकर कल्पे ऐसी औषध जो उसने अपने लिये तैयार करके रखी हुई है ले आओ। सिंह अणगार उस रेवती के घर गया। तब उसने हर्षित होकर अभ्युत्थान किया (उठी)। सात-आठ कदम आगे जाकर परमभक्ति पूर्वक वन्दना की। सिंह मुनि ने उसे कहा कि 'तुम्हारे घर तुम्हारे लिये तैयार की हुई जो औषध है वह मुझे दो, उसने कहा कि यह औषध मैंने एकान्त मे अर्थात् अपने घर में बनायी है जिस का किसी को पता नहीं। इसे तुम ने कैसे जाना ? मुनि ने कहा कि केवली (सर्वज्ञ) वीरनाथ (भगवान महावीर स्वामी) ने यह कहा है। द्रव्यादि से विशुद्ध इस औषधदान से रेवती ने देवायु का बन्ध किया। तथा परिमित संसारीपना किया। वहां दिव्य प्रगट हुए।

(घ)

विक्रम संवत् ११३९ में गुणचन्द्रगणि नामक विद्वान ने प्राकृत भाषा में गद्य-पद्य में बारह हजार श्लोक प्रमाण महावीरचरित्र रचा है,

जो देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड सूरत से प्रकाशित हो चुका है। उसके प्रस्ताव ८ पत्र २८२, २८३ में वर्तमान चर्चास्पद विषय पर प्रकाश डालता हुआ वर्णन है। वहाँ सिंह अणगार की प्रार्थना से कल्प्य औषधि स्वीकार करने के लिए भगवा_ महावीर सम्मत होने पर भी "अपने निमित्त से तैयार की हुई औषध नही कल्पती," ऐसा साधुसामाचारी-मर्यादा को अपने आचरण से सूचित करते हैं।

"जइ एवं ता इहेव नयरे रेवईए गाहावइणीए समीवं वच्चाहि। ताए य मम निमित्त जं पुव्व ओसहं उवक्खडियं तं परिहरिऊण इयरं अप्पणो निमित्तं निप्फाइयं आणेहि त्ति।"

भावार्थ—[हे सिंह!] यदि ऐसा ही है तो इसी नगर में (मेढिक ग्राम में) रेवती नाम की गृहपति की पत्नी के समीप जा, उसने मेरे निमित्त जो पहले औषध तैयार की हुई है उसे छोड़ कर दूसरी (औषध) जो उस ने अपने लिये तैयार की हुई है, वह लाना। भगवान् महावीर के लिये औषधदान देने मे इस भक्त श्रद्धालु की देवगति हुई, इत्यादि वहां विस्तृत वर्णन है।

(ङ)

स्वतंत्र संस्कृत-प्राकृत शब्दानुशासन, कोश, काव्य, साहित्य रचने वाले सुप्रसिद्ध कलिकालसर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्र ने विक्रम की तेरहवी शताब्दी में "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र" महाकाव्य रचा है, जिसके दसवें पर्व मे लगभग छः हजार श्लोकप्रमाण भगवान् महावीर का चरित्र है। यह ग्रंथ भावनगर से जैनधर्म प्रसारक सभा ने विक्रम संवत् १९६५ मे प्रकाशित किया है। उसके आठवें सर्ग के श्लोक ५४९ से ५५२ मे चालू चर्चास्पद विषय पर स्पष्ट प्रकाश डाला है।

मादृशां दुःखशान्त्यै तत् स्वामिन्नादत्स्व भेषजम्।
स्वामिनं पीडितं द्रष्टुं, नहि क्षणमपि क्षमाः ॥५४९॥

तस्योपरोधात् स्वाम्यूचे, रेवत्या श्रेष्ठिभार्यया।
पक्वः कूष्मांडकटाहो, यो मह्यं तं तु मा ग्रही: ॥५५०॥
बीजपूरकटाहोऽस्ति यः पक्वो गृहहेतवे।
तं गृहीत्वा समागच्छ, करिष्ये तेन वो धृतिम् ॥५५१॥
सिंहोऽगादथ रेवतीगृहमुपादत्त प्रदत्तं तया,
कल्प्यं भेषजमाशु तत्र ववृषे स्वर्णं च हृष्टैः सुरैः।
सिंहानीतमुपास्य भेषजवरं तद् वर्धमानः प्रभुः,
सद्यः संघचकोरपार्वणशशी प्रापद् वपुः पाटवम् ॥५५२॥

भावार्थ—[भक्तिमान् सिंह अनगार ने कहा] हे स्वामिन्! हमारे जैसों के दुःख की शांति के लिये तो आप भेषज ग्रहण करो, क्योंकि मेरे जैसो से (भक्तों-सेवकों से) स्वामी को क्षणवार भी पीड़ित नही देखा जाता। उसके आग्रह से स्वामी ने (भगवान् महावीर ने) कहा कि—सेठ *की भार्या रेवती ने मेरे लिये ही कुष्माण्ड-कटाह* (पेठे का पाक) *बनाया* है, उसे मत लाना। किन्तु उसने अपने घर के लिये जो बीजपूर कटाह (बीजोरा पाक) बनाया है, उसे ले आओ। उसके द्वारा तुम्हे धृति—धीरज पैदा होगी। तत्पश्चात् सिंह (मुनि) रेवती श्राविका के घर गया तथा उसके द्वारा दिये हुए कल्पे ऐसे भेषज (औषध) को भगवान् ने स्वीकार किया। वहां हर्षित हुए देवों ने शीघ्र ही स्वर्ण वृष्टि की। संघ रूपी चकोर को उल्लसित करने के लिये चन्द्रमा के समान वर्धमान प्रभु (भगवान् महावीर) ने सिंह के द्वारा लाये हुए उस भेषज का सेवन किया। तत्पश्चात् शीघ्र ही शरीर की स्वस्थता प्राप्त की।

इन उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने वनस्पति से तैयार की गयी औषध को ही अपने रोग की शांति के लिये सेवन किया था। इस विवेचन में दिये गये 'क, ख, ग, घ' उद्धरणों के लेखक विक्रम की बारहवीं शताब्दी के समकालीन हैं तथा "ङ" उद्धरण के लेखक तेरहवी शताब्दी के हैं। इससे यह स्पष्ट है कि उस

समय के सभी जैन आचार्य इस औषधिदान को वनस्पतिपरक ही मानते थे। इस बात की पुष्टि के लिये और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं। परन्तु विस्तारभय से इतने प्रमाण देना ही पर्याप्त हैं। सुज्ञेषु किं बहुना ?

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि जैनाचार्य हजारों वर्षों से इन शब्दों का अर्थ 'वनस्पतिपरक' ही करते आये हैं। *अतः निग्गंठ नायपुत्त* (श्रमण भगवान् महावीर) ने अपने रोग की शान्ति के लिये अथवा अन्य भी किसी समय मांसाहार कदापि ग्रहण नहीं किया। भगवान् महावीर के विषय में भगवती सूत्र के इस एक उल्लेख के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा उल्लेख जैनागमों अथवा जैन साहित्य में नही पाया जाता जिससे उनके विषय में मांसाहार करने की आशंका का होना संभव हो। इस चर्चास्पद सूत्रपाठ से भी यह बात स्पष्ट है कि इन शब्दों का अर्थ मांसपरक नही किन्तु वनस्पतिपरक है।

(२)

इस औषधदान पर दिगम्बर जैनों का मत

दिगम्बर जैन संप्रदाय के विद्वान् भी रेवती (मेंढिक ग्राम वाली) के इस औषधदान की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। रेवती ने जो तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया, उसका कारण भी यह औषधदान ही था, ऐसा कहते है। वह लेख यह है।

"रेवतीश्राविकया श्रीवीरस्य औषधदानं दत्तम्। तेनौषधिदान-कालेन तीर्थंकरनामकर्मोपार्जितमत एव औषधिदानमपि दातव्यम्।"

(हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बई की जैन चरितमाला नं० ६)

अर्थ—रेवती श्राविका ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को औषध-दान दिया। उस औषधदान देने से उसने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया। अतः औषधदान भी देना चाहिये।

इस उपर्युक्त उल्लेख से भी यही स्पष्ट है कि जैनधर्म के किसी भी सम्प्रदाय अथवा विभाग को इस औषध दान के विषय में—फिर वह चाहे श्वेताम्बर हो अथवा दिगम्बर—कोई मतभेद नहीं है। सभी को यह बात मान्य है कि यह औषध वनस्पति से ही तैयार की गयी थी।

(३)

जैन तीर्थंकर का आचार

जो जीव तीर्थंकर होते हैं, वे तीर्थंकर होने से तीन भव पहले बीस स्थानक अथवा सोलह कारण (बीस प्रकार के कृत्य, जिनका समावेश सोलह कारणों में होता है) का आराधन करके तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करते हैं। यहाँ से काल करके (मृत्यु पाकर) प्रायः स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। वहां से काल करके मनुष्य क्षेत्र में बहुत भारी समृद्धि और परिवार वाले उत्तम शुद्ध राज्य कुल में जन्म लेते हैं। तीर्थंकर होने वाले इन जीवों को माता के गर्भ में ही अवश्यमेव तीन ज्ञान मति, श्रुत, अवधि होते हैं। इनका शरीर वज्रऋषभनाराचसंहनन वाला होता है (वज्र के समान दृढ़ होता है), इनको आयु अनपवर्तनीय (किसी घातादि के निमित्त से क्षय न होने वाली) होती है। ये महानुभाव संसार की मोह-माया-ममता का सर्वथा त्याग कर देते हैं। अपनी दीक्षा का समय तीर्थंकरों के जीव अपने ज्ञान से ही जान लेते हैं। इनका गृहस्थजीवन भी प्रायः अनासक्त होता है। दीक्षा लेने से एक वर्ष पहले एक वर्ष तक दान देकर, यदि माता-पिता विद्यमान हों तो उनकी आज्ञा लेकर बड़े महोत्सव पूर्वक स्वयमेव दीक्षा ग्रहण करते हैं। किसी को गुरु नहीं बनाते, क्योंकि वे तो स्वयं ही त्रिलोकी के गुरु होने वाले होते हैं और ज्ञानवान् हैं। दीक्षा लेकर

सब प्रकार के पापजन्य मानसिक-वाचिक-कायिक व्यापारों का त्याग कर महान् अद्भुत तप करते हैं, जिससे चार घाती कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञान प्राप्त कर वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते है, फिर संसारतारक उपदेश देकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते है। ऐसे महापुरुष तीर्थंकर होते हैं।

तीर्थंकर भगवान् बदले के उपकार की इच्छा न रखते हुए राजा-रंक, ब्राह्मण से चाडाल पर्यन्त सब प्रकार के योग्य नर-नारियों को एकान्त हितकारक, संसारसमुद्र से तारक धर्मोपदेश देते हैं।

तीर्थंकर भगवान् के गुणों का पारावार नही, उनके गुण अपार हैं। अत: सबका वर्णन करना असंभव है, फिर भी यहा संक्षेप मे कुछ गुणों का उल्लेख किया जाता है।

१ अनन्त केवलज्ञान, २. अनन्त केवलदर्शन, ३. अनन्त चारित्र, ४. अनन्त तप, ५. अनन्त बल, ६. पाँच अनन्त (दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य) लब्धियाँ, ७. क्षमा, ८ संतोष, ९. सरलता, १०. निरभिमानिता, ११. लाघवता, १२. सत्य, १३. संयम, १४. इच्छारहितपन, १५. ब्रह्मचर्य, १६ दया (जीवहिंसा का नवकोटिक त्याग), १७. परोपकारिता, १८. वीतरागता (राग-द्वेष रहितता), १९. शत्रु-मित्रभाव रहित, २०. स्वर्णपाषाणादि समभाव, २१. स्त्री-तृण पर समभाव, २२. मांसाहार रहित, २३. मदिरापान रहित, २४. अभक्ष्य (न खाने-पीने योग्य पदार्थ) भक्षण रहित, २५. अगम्यगमन रहित, २६. करुणा के समुद्र, २७. शूर, २८. वीर, २९. धीर, ३०. अक्षोभ्य, ३१. पर निन्दा रहित, ३२. अपनी स्तुति न करे, ३३. अपने विरोधि को भी तारने वाले इत्यादि।

(१) मोहनीय, (२) ज्ञानावरणीय, (३) दर्शनावरणीय, (४) अन्तराय इन चार घातिया कर्म के क्षय करने के कारण १८ दोषों से रहित होते है।

"अन्तराया दान-लाभ-वीर्य-भोगोपभोगगाः,
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च॥

कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा,
रागो-द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥

[अभिधान चि० को० १, श्लो० ७२-७३]

अर्थात्—(१) मिथ्यात्व, (२) राग, (३) द्वेष, (४) अविरति, (५) कामवासना, (६) हास्य, (७) रति, (८) अरति, (९) शोक, (१०) भय, (११) जुगुप्सा (ये ११ दोष मोहनीय कर्म के क्षय से), (१२) निद्रा (दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से), (१३) अज्ञान (ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से), (१४) दानान्तराय, (१५) लाभान्तराय, (१६) भोगान्तराय, (१७) उपभोगान्तराय, (१८) वीर्यान्तराय (अन्तराय कर्म के क्षय से)—इन अठारह दोषों से रहित होते हैं।

हम ऊपर लिख आये हैं कि तीर्थंकर का जीव तीर्थंकर होने से तीन भव पहले बीस स्थानक अथवा सोलह कारण का आराधन करके तीर्थंकर नाम गोत्र का बन्धन करते हैं। सो वे सोलह कारण ये हैं।

"दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ, शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य"।

(तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ६)

१. दर्शनविशुद्धि, (वीतराग सर्वज्ञ के कहे हुए तत्त्वों पर निर्मल और दृढ़ श्रद्धा)। २. विनय सम्पन्नता (ज्ञानादि और उनके साधनों के प्रति निरतिचार—विनय बहुमान रखना)। ३. शीलव्रतानतिचार (शील और व्रतों में अत्यन्त अप्रमाद)। ४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (ज्ञान में सतत उपयोग)। ५ अभीक्ष्ण संवेग (सांसारिक भोग जो वास्तव में सुख के बदले दुःख के ही साधन बनते हैं उनसे डरते रहना अर्थात् कभी भी इन के लालच में नहीं पड़ना)। ६-७-८-९ शक्ति के अनुसार त्याग और तप, चतुर्विध संघ और साधु की समाधि (स्वास्थ्य का ध्यान रखना) और

वैयावृत्य करना (गुणवान को कठिनाई में से निकालना)। १०-११-१२-१३—अरिहंत, आचार्य, बहुश्रुत और शास्त्र के प्रति शुद्ध निष्ठापूर्वक अनुराग रखना। १४. आवश्यक क्रिया को न छोड़ना (सामायिकादि छः आवश्यकों का पालन करना)। १५. मोक्षमार्ग की प्रभावना (आत्मा के कल्याण के मार्ग को अपने जीवन में उतारना तथा दूसरों को उसका उपदेश देकर धर्म का प्रभाव बढ़ाना)। १६. प्रवचनवात्सल्य (वीतराग सर्वज्ञ के वचनों पर स्नेह—अनन्य अनुराग होना)।

इन उपर्युक्त कार्यों में से एक अथवा अधिक कार्यों को करने से जीव तीर्थंकर पद को प्राप्त करने योग्य कर्म का बन्धन करता है। इस कर्म का नाम है तीर्थंकर नामकर्म।

बीस स्थानकों का वर्णन ज्ञाताधर्म कथांग आदि आगमों में—

"अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुय-तवस्सीसु।
वच्छल्लया य तेसिं अभिक्खणाणोवओगे य ॥१॥
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारे।
खणलव तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥२॥
अप्पुव्वणाण गहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥

(ज्ञाताधर्म कथांग अ० ८ सूत्र ६४)

अर्थात्—१—अरिहंतभक्ति, २—सिद्धभक्ति, ३—प्रवचनभक्ति, ४—स्थविर (आचार्य) भक्ति, ५—बहुश्रुतभक्ति, ६—तपस्वी वत्सलता, ७—निरन्तर ज्ञान में उपयोग रखना, ८—दर्शन (सम्यक्त्व) को शुद्ध रखना, ९—विनय सहित होना, १०—सामायिक आदि छः आवश्यको का पालन करना, ११—अतिचार रहित शील और व्रतों का पालन करना, १२—संसार को क्षणभंगुर समझना, १३—शक्ति अनुसार तप करना १४—शक्ति अनुसार त्याग (दान) करना, १५—शक्ति अनुसार चतुर्विध संघ की तथा साधु की समाधि करना, (वैसा करना जिससे वे

स्वस्थ रहें), १६—वैयावृत्य करना (गुणवान् यदि कठिनाई में पड़े हों तो उन्हें कठिनाई से दूर करने का प्रयत्न करना), १७—अपूर्व (नये-नये) ज्ञान को ग्रहण करना, १८—शास्त्र में भक्ति होना, १९—प्रवचन में भक्ति होना, २०—तीर्थंकर के सिद्धान्तों का प्रचार करना। इन कारणों से जीव तीर्थंकर नामकर्म का बन्धन करता है।

तत्त्वार्थसूत्र में १६ कारण तथा आगम—ज्ञाताधर्म कथांग में २० कारण तीर्थंकर नामकर्म बांधने के दिये हैं। दोनों में किसी भी प्रकार का भेद नही हैं। सूत्रकार ने नं० १०-११-१२-१३ में अरिहन्त—आचार्य—बहुश्रुत—शास्त्र को, आगम ने १-२-३-४-५-६-७ अरिहन्त—सिद्ध—प्रवचन—आचार्य-स्थविर-बहुश्रुत-तपस्वी इस प्रकार विस्तार में सात भेद कर दिये हैं। इसी प्रकार आगमकार ने १७-१८ अपूर्व ज्ञान को ग्रहण करना, तथा शास्त्रभक्ति दो भेद किये हैं, जबकि सूत्रकार ने शास्त्रभक्ति में इन दोनो का समावेश करके १६ भेद कर दिये हैं।

तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन करने के लिए जो-जो भावनाएं बतलाई गयी है उन सब भावनाओं में सूत्रकार ने "दर्शनविशुद्धि" को सर्व-प्रथम रखा है। इससे यह बतलाया है कि इन बीस अथवा सोलह भावनाओं में से "दर्शनविशुद्धि" मुख्य है। इसके अभाव में दूसरी सब भावनाए हों तो भी "तीर्थंकर नाम" का उपार्जन नहीं हो सकता और इसके सद्भाव में दूसरी भावनाएं हों अथवा न हों तो भी तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन हो सकता है। (अर्थात्—यदि जीव को जिनोपदिष्ट धर्म में सच्चा अनुराग हो तो ही तीर्थंकर गोत्र का आस्रव होना संभव है)।

शास्त्रों में तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के उपर्युक्त दानादि अलग-अलग कारण जो बतलाये हैं, उनका अभिप्राय यही है कि जीव सम्यग्दर्शन[1]

१—नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥
(उत्तराध्ययन अ० २८ सू० ३०)

को प्राप्त करने के पश्चात् बीस अथवा सोलह भावनाओं में से किसी भी एक-दो अथवा अधिक भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर सकता है। सम्यग्दर्शन के अभाव से मिथ्यादृष्टि अन्य किन्हीं भी भावनाओं को आचरण में लाता हुआ कदापि तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन नहीं कर सकता।

तीर्थंकर भगवान् का संक्षिप्त आचार तथा विचार जानने के लिए देखें प्रथम खण्ड में स्तम्भ नं० ४ से ७ तक। इन सब स्तम्भों को पढ़ने से पाठक स्वयं जान सकेंगे कि तीर्थकरदेव सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर स्वामी के आचारों तथा विचारों का अवलोकन करने से यह बात स्पष्ट है कि वे कभी भी मांसाहार को ग्रहण नहीं कर सकते थे।

(४-५)

निर्ग्रंथ श्रमण (मुनि) तथा निर्ग्रंथ श्रमणोपासक (श्रावक) का आचार

इस निबन्ध के प्रथम खण्ड में स्तम्भ नं० २ से ७ तक हम देख चुके हैं कि १—जैन तीर्थंकर के आचार, २—निर्ग्रन्थ श्रमण, तथा ३—निर्ग्रंथ श्रावक-श्राविकाओं (तीनों) के आचार-विचार से यह बात स्पष्ट है कि जैन दर्शन तथा आचार को सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र में उतारने वाला कोई भी व्यक्ति—फिर वह चाहे तीर्थंकर हो, श्रमण हो अथवा व्रतधारी श्रावक हो—कदापि मत्स्य-मांस-मदिरा आदि पदार्थों का सेवन नहीं कर सकता। इन पदार्थों को जैनागमों में अभक्ष्य कहा है और ऐसे अभक्ष्य पदार्थों के सेवन का सर्वत्र निषेध किया है। इनका औषध रूप मे भी तीर्थंकर अथवा निर्ग्रन्थ श्रमण प्रयोग नहीं कर सकते।

इस औषध को सेवन करने वाले, औषध लाने वाले तथा औषध बनाने और देने वाली का जीवन परिचय

१—वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर भगवान् वर्धमान-महावीर स्वामी ने रक्त-पित्त (पेचिश) तथा पित्तज्वर की व्याधि को मिटाने के लिए इस औषध का सेवन किया। २—निर्ग्रंथ श्रमण सिंह ने यह औषध लाकर दी। ३—रेवती श्राविका ने इस औषध को अपने घरके लिए बनाया और सिंह मुनि को भगवान् महावीर के रोगशमन के लिए प्रदान किया।

१—सर्व प्रथम श्रमण भगवान् महावीर के सम्बन्ध में विचार करते हैं—

भगवान् महावीर गौतम बुद्ध के समकालीन थे। दोनों श्रमण संप्रदाय के समर्थक थे। फिर भी दोनों के अन्तर को जाने बिना हम उनके आचार-विचार सम्बन्धी किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सकते।

(क) पहला अन्तर तो यह है कि बुद्ध ने महाभिनिष्क्रमण से लेकर अपना नया मार्ग-धर्मचक्र प्रवर्तन किया, तब तक के छः वर्षों में उस समय प्रचलित भिन्न-भिन्न तपस्वी और योगी संप्रदायों का एक-एक करके स्वीकार-परित्याग किया। अन्त में अपने विचारो के अनुकूल एक नया ही मार्ग स्थापित किया, जबकि महावीर को कुलपरम्परा से जो धर्म-मार्ग प्राप्त था वह उसे लेकर आगे बढ़े और उस धर्म में अपनी साहजिक विशिष्ट ज्ञानदृष्टि और देश व कालकी परिस्थिति के अनुसार सुधार या शुद्धि की। बुद्ध का मार्ग नया धर्म-स्थापन था तो महावीर का मार्ग प्राचीन काल से चले आते हुए जैनधर्म को पुनःसंस्कृत करने का था।

(ख) बुद्ध ने बुद्धत्व की प्राप्ति से पहले निर्ग्रन्थचर्या के अनुसार तपश्चर्या की, बाद में इससे ऊब कर उन्होंने तपश्चर्या का त्याग कर दिया और तत्पश्चात् बुद्धत्व प्राप्ति उद्घोषणा करके नये पंथ की स्थापना की। तब उन्होंने निर्ग्रन्थों के तपप्रधान आचारों की अवहेलना भी की और कड़ी आलोचना भी की। भगवान् महावीर के माता-पिता तथा मामा महाराजा चेटक आदि तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के उपासक थे। यानी भगवान् महावीर का पितृधर्म पार्श्वापत्यिक निर्ग्रंथों का था। उन्होंने कहीं भी निर्ग्रंथों के मौलिक आचार एवं तत्त्वज्ञान की जरा भी अवहेलना नहीं की है। प्रत्युत निर्ग्रंथों के परम्परागत उन्हीं आचार-विचारों को अपनाकर अपने जीवन के द्वारा उन का संशोधन, परिवर्तन एवं प्रचार किया है।

(ग) भगवान् महावीर ने मत्स्य-मांसाहार आदि अभक्ष्य पदार्थों का सर्वथा निषेध किया है और निर्ग्रंथ श्रमण को नवकोटिक अहिंसा पालन करने के लिए फ़रमाया है, यही कारण है कि निर्ग्रंथ श्रमण तथा निर्ग्रंथ श्रमणोपासक (जैन श्रावक) आज भी कट्टर निरामिषाहारी हैं। जबकि बौद्ध मृत-मांस का निषेध नहीं करते, जिसके परिणाम स्वरूप आज का बौद्ध जगत् प्रायः सर्व प्राणियों का मांस-भक्षक दृष्टिगोचर हो रहा है।

(घ) भगवान् महावीर के समस्त साधकजीवन में अहिंसा-संयम-तप ये तीनों बातें मुख्य हैं। इनकी सिद्धि के लिए उन्होंने बारह वर्षों तक जो प्रयत्न किया और उसमें जिस तत्परता तथा अप्रमाद का परिचय दिया वैसा आज तक की तपस्या के इतिहास में किसी व्यक्ति ने दिया हो यह दिखाई नहीं देता। परन्तु बुद्ध ने इसी तप को देह दुःख और देहदंडन कहकर उसकी अवहेलना की है; क्योंकि बुद्ध ने अपनी शक्ति का विचार किये बिना एवं देखा-देखी तप द्वारा शुष्क देह-दमन किया था। जिसका परिणाम यह हुआ कि बुद्ध की सहनशीलता में कमी आयी, और तप को छोड़ कर मध्यम मार्ग की स्थापना करने के लिए

बाध्य होना पड़ा, जिससे उनके जीवन में न तो खान-पान सम्बन्धी संयम ही रहा और न तप ही रहा। जिसके परिणाम स्वरूप वे अहिंसा-तत्त्व से अधिकाधिक दूर होते गये।

परन्तु महावीर का तप शुष्क देहदमन नहीं था। वे जानते थे कि यदि तप के अभाव से सहनशीलता कम हुई तो दूसरों की सुख-सुविधा की आहुति देकर अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने की लालसा बढ़ेगी और उसका फल यह होगा कि सयम न रह पायेगा। इसी प्रकार संयम के अभाव मे कोरा तप भी देहकष्ट की तरह निरर्थक है।

(ङ) ज्यों-ज्यों भगवान् महावीर संयम और तप की उत्कटता से अपने आप को निखारते गये, त्यों-त्यों वे अहिसातत्त्व के अधिकाधिक निकट पहुंचते गये, त्यों-त्यों उनकी गम्भीर शांति बढने लगी और उसका प्रभाव आस-पास के लोगों पर अपने आप पड़ने लगा। मानस शास्त्र के नियम के अनुसार एक व्यक्ति के अन्दर बलवान होने वाली वृत्ति का प्रभाव आस-पास के लोगों पर जान-अनजान में हुए विना नही रहता। परन्तु बुद्ध तप और संयम को त्याग देने के कारण अहिंसा तत्त्व को पूर्ण रूप से अपने जोवन में उतारने में असमर्थ रहे। उनका अहिंसा तत्त्व उपदेश मात्र बन कर रह गया। परन्तु अपने और अपने अनुयायियों के आचरण में इसे पूर्ण रूप से न उतार सके। अत: इनका यह अहिंसा सिद्धांत थोथा होकर रह गया।

(च) अहिंसा का सार्वभौम धर्म दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर में परिप्लुत हो गया था, तब उनके सार्वजनिक जीवन के प्रभाव से मगध और विदेह देश का पूर्वकालीन मलिन वायुमंडल धीरे-धीरे शुद्ध होने लगा और वेद विहित पशु-बली-यज्ञों को सदा के लिए देश-निकाला मिल गया। माँसाहारियों की संख्या में एकदम कमी होने लगी। जो लोग माँसाहारी थे उनको जन साधारण अवहेलना की दृष्टि से देखने लगे। उस समय के अन्य संप्रदायों पर आपके अहिंसा धर्म की गहरी छाप पड़ी

थी। बुद्ध के मध्यम मार्ग का प्रचार पशु-यज्ञों को बन्द कराने में सफल तो हुआ परन्तु माँसाहार के प्रचार को न रोक सका और स्वयं भी माँसाहारी बन गया।

(छ) भगवान् महावीर ने त्याग और तपस्या के नाम पर रूढ़ शिथिलाचार के स्थान पर सच्चे त्याग और सच्ची तपस्या की प्रतिष्ठा करके भोग की जगह योग के महत्त्व का वायुमंडल चारों ओर उत्पन्न किया। परन्तु बुद्ध ने सच्चे त्याग और तप को न समझने के कारण इनकी अवहेलना कर स्थान-स्थान पर कड़ी आलोचना की हैं।

(ज) निग्रंथ तपस्या के खंडन करने के पीछे बुद्ध की दृष्टि मुख्य यही रही है कि तप यह कायक्लेश है, इन्द्रिय और देहदमन मात्र है; उसके द्वारा दुःख सहन करने का अभ्यास तो बढ़ता है लेकिन उससे कोई आध्यात्मिक शुद्धि और चित्तक्लेश का निवारण नहीं होता इसलिए देहदमन या कायक्लेश मिथ्या है।

भगवान् महावीर ने भी यही कहा है कि देहदमन या कायक्लेश कितना ही उग्र क्यों न हो पर यदि उसका उपयोग आध्यात्मिक शुद्धि और चित्तक्लेश के निवारण में नहीं होता तो वह देहदमन या कायक्लेश मिथ्या है।

इस का मतलब तो यही हुआ कि आध्यात्मिक शुद्धि के बिना सम्बन्ध वाली तपस्या भगवान् महावीर को भी अभीष्ट नहीं थी।

भगवान् महावीर और बुद्ध की ऐसी समान मान्यता होते हुए भी बुद्ध ने निर्ग्रन्थ तपस्या का खण्डन अथवा कड़ी आलोचना क्यों की इसक विचार करना भी जरूरी है।

(झ) अपनी शिथिलता के कारण जब बुद्ध को त्याग और तपमय आचार को त्याग कर अपने आचार-विचारों सम्बन्धी नये सुझावों को अधिक-से-अधिक लोकग्राह्य बनाने का प्रयत्न करना था, तब उनके लिये ऐसा किये बिना नया संघ एकत्र करना और उसे स्थिर रखना असम्भव था।

क्योंकि उस समय निर्ग्रन्थ परम्परा का बहुत प्राधान्य था। उनके तप और त्याग से जनता आकृष्ट होती थी, जिससे निर्ग्रन्थों के प्रति उनका अधिक झुकाव व बौद्ध धर्मानुयायियों में आचार की शिथिलता को देखकर वह प्रश्न कर उठती थी कि आप तप की अवहेलना क्यों करते हैं ? तब बुद्ध को अपने शिथिलाचार की पुष्टि के लिये अपने पक्ष की सफाई भी पेश करनी थी और लोगों को अपने मन्तव्यों की तरफ़ खेंचना भी था। इस लिये वे निर्ग्रन्थों की आध्यात्मिक तपस्या को केवल कष्टमात्र और देहदमन बतला कर कड़ी आलोचना करने लगे।

(ञ) भगवान् महावीर ने जीवात्मा को चैतन्यमय स्वतन्त्र तत्त्व माना है। अनादिकाल से यह जीवात्मा कर्मबन्धनों में जकड़ी हुई आवा-गमन के चक्कर मे फँसी हुई पुनः-पुनः पूर्व देह त्यागरूप मृत्यु तथा नवीन देह प्राप्तिरूप जन्म धारण करती है। जीवात्मा शाश्वत है, इसमें चेतना रूप ज्ञान-दर्शनमय गुण हैं और कर्मो को क्षय करके शुद्ध पवित्र अवस्था को प्राप्त कर निर्वाण अवस्था प्राप्त कर सदा के लिये जन्ममरणरहित होकर शुद्ध स्वरूप मे परमात्मा बन जाती है। अत: आत्मा, परमात्मा, पाप, पुण्य, परलोक आदि को मानकर जैन दर्शन ने 'आत्मा है, परलोक है, प्राणी अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार फल भोगता है', इत्यादि सिद्धान्त स्वीकार किया है। भगवान् महावीर के तत्त्वज्ञान का परिचय हम प्रथम खण्ड के पाँचवे स्तम्भ मे लिख आये हैं। उससे हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि ऐसे विचार वाला व्यक्ति किसी भी प्राणी का मांस भक्षण नही कर सकता।

परन्तु बुद्ध ने क्षण-क्षण परिवर्तनशील मन के परे किसी भी जीवात्मा को नही माना। मरने का मतलब है मनका च्युत होना। बौद्ध दर्शन अपने आप को अनात्मवादी और अनीश्वरवादी मानता है। उसका कहना है कि "आत्मा कोई नित्य वस्तु नहीं है परन्तु ख़ास कारणों से स्कंधों (भूत, मन) के ही योग से उत्पन्न एक शक्ति है, जो अन्य बाह्य भूतों की भांति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन हो रही है। चित्त, विज्ञान, आत्मा

एक ही चीज़ है। जिस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण और त्वक् इंद्रियों को हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वैसे मन को नहीं। हमें मन की सत्ता क्यों स्वीकार करनी पड़ती है ? आँखें इमली देखती हैं और जिह्वा से पानी टपकने लगता है। नाक दुर्गन्ध सूँघती है और हाथ नाक पर पहुँच जाता है। आप देखते हैं, आँख और जिह्वा एक नहीं है, न वे एक दूसरे से मिली हुई हैं। इस लिए इन दोनों के मिलाने के लिए एक तीसरी इन्द्रिय चाहिये, और वह है मन। उक्त कारण से चक्षु आदि इन्द्रियों के अतिरिक्त हमें उन के संयोजक एक भीतरी इन्द्रिय को मानने की ज़रूरत पड़ती है, जिसे मन कहते है। इससे परे आत्मा की क्या आवश्यकता ? इत्यादि।"

(बौद्ध दर्शन—राहुल सांकृत्यायन कृत)

विचार के अनुसार ही आचार होता हैं। बौद्ध दर्शन मानता है कि आत्मा नही है, परमात्मा नही है। आत्मा नही तो कर्मबन्ध, पाप-पुण्य, परलोक-गमनादि किस का होता है ?—इत्यादि प्रश्नों का स्पष्टीकरण भी उनके लिये असंभव था। इसी लिए बुद्ध ने इन सब को अकथनीय कह कर टाल दिया था।

बुद्ध से जब लोग प्रश्न करते थे कि (१) क्या लोक है ? (२) क्या लोक अनित्य है ? (३) क्या लोक अन्तवान है ? (४) क्या लोक अनन्त है ? (५) क्या जीव और शरीर एक है ? (६) क्या जीव दूसरा और शरीर दूसरा है ? (७) क्या मरने के बाद तथागत बुद्ध मुक्त होते हैं ? (८) क्या मरने के बाद तथागत बुद्ध मुक्त नहीं होते ? (९) क्या मरने के बाद तथागत बुद्ध होते भी हैं, नहीं भी होते ? (१०) क्या मरने के बाद तथागत न होते है, न नही होते ? ये प्रश्न बुद्ध से मालुक्य पुत्र ने किये थे। यदि भगवान जानते है तो बतलावे। यदि नही जानते तो न जानने समझने वाले के लिए यही सीधी बात है कि वह साफ़ कह दे-मैं नही जानता, मुझे नहीं मालूम (म० नि० २/२ ३।।)। बुद्ध ने उत्तर दिया—ये दस अकथनीय हैं। यदि बुद्ध ने आत्मा-परमात्मा-परलोक आदि माने होते और उनका स्वरूप वे जानते होते तो इन्हें अकथनीय कह कर टाल न देते, परन्तु

उनका स्वरूप बतलाते ।

संभवतः बौद्धों में मृत मांस के प्रचार पाने का यही कारण प्रतीत होता है कि उनके यहाँ आत्मा को स्वतंत्र तत्त्व न मान कर पांच स्कन्धों का समूह रूप माना है ; जिससे कि देहावसान के पश्चात् प्राणी के मृत मांस को भक्ष्य मान लिया गया होगा ! जो हो।

परन्तु जैन तीर्थंकर भगवन्तों ने प्राणियों के मृत कलेवर को भी असंख्यात कीटाणुओं का पुंज मान कर सजीव माना है। और मांस मृत प्राणी के शरीर का होता है, फिर चाहे वह प्राणी किसी के द्वारा मारा गया हो अथवा अपने आप मरा हो, अतः मांस असंख्य जीवित कीटाणुओं का पुंज होने से उसका भक्षण करने से महान् हिंसा का दोष लगता है, इस लिए जैन दर्शन ने इसे सर्वथा अभक्ष्य मान कर त्याज्य किया है। क्योंकि जैनदर्शन मानता है कि आत्मा है, परमात्मा है, परलोक है, प्राणी अपने शुभ-अशुभ कर्म के अनुसार फल भोगता है ।

साराश यह है कि श्रमण भगवान महावीर के जीवन और उपदेश का संक्षिप्त रहस्य दो बातों में आजाता है :—आचार मे पूर्ण अहिंसा और तत्त्वज्ञान मे अनेकान्त, जिसके द्वारा उन्होंने धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति कर भारत पर महान उपकार किया है, जो कि भारतवर्ष के मानसिक जगत में अब तक जागृत अहिंसा, संयम और तप के अनुराग के रूप में जीवित है ।

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध आत्मसाधना के एक ही पथ के दो पथिक थे। महात्मा बुद्ध अपने पथ से भटक गये और भगवान महावीर उस पथ को पार कर सफलता प्राप्त कर गये ।

२—भगवान् महावीर की आज्ञा से औषध लाने वाले का आचार।

इस औषध को लाने की आज्ञा देने वाले श्रमण भगवान महावीर हैं और लाने वाले पांच महाव्रतधारी महान् तपस्वी मुनि श्री सिंह हैं, जो मनसा-वाचा-कर्मणा हिंसा तथा मांस भक्षण के विरोधी हैं (देखें निर्ग्रन्थ श्रमण का आचार, स्तम्भ नं ३ में); स्वयं अहिंसा के महान् उपदेशक तथा स्वयं उसे आचरण में लाने वाले भी हैं । यदि उपदेशक किसी सिद्धान्त का

उपदेश तो करे, किन्तु उसे अपने आचरण में न उतारे तो उस सिद्धान्त का और उस सिद्धान्त के प्रचारक का जनसमाज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, [गौतम बुद्ध ने अहिंसा का प्रचार तो किया, किन्तु स्वयं मांसाहार का त्याग नहीं किया, फलत: आज भी बौद्ध धर्मावलम्बियों में मांसाहार प्राय: सर्वत्र प्रचलित है]। हम लिख आये हैं कि भगवान् महावीर ने अहिंसा का उपदेश दिया और साथ ही जीवन में भी ओत-प्रोतकर अहिंसा का पूर्णरूपेण पालन किया। फलतः आज भी जैनधर्मावलम्बियों में मत्स्य-मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन पूर्ण रूप से त्याज्य है।

जैन तीर्थङ्करों तथा निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचारों को समझ लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी आदर्श अहिंसा के उपदेशक तथा प्रतिपालक सिंह नामक निर्ग्रन्थ श्रमण मांसाहार न तो ला ही सकते थे और न ही श्रमण भगवान् महावीर उसे लाने की आज्ञा ही दे सकते थे।

३—औषध बनाने तथा देने वाली रेवती श्राविका का व्यवहारिक जीवन

मुनि सिंह उस औषध को किसी कसाई अथवा यज्ञस्थल से नहीं लाये थे और न ही किसी मांसाहारी के वहाँ से लाये थे। वह तो उसे एक उत्कृष्ट जैन श्राविका (श्रमणोपासिका) के घर से लाये थे, जिसका नाम था रेवती, जो कि एक धनाढ्य सेठ की भार्या थी।

इस रेवती का वर्णन प्राचीन जैनागम शास्त्रों में इस प्रकार पाया जाता है।

१—**"समणस्स भगवओ महावीरस्स सुलसा-रेवइ पामुक्खाणं समणोवासियाणं तिन्नि सयसहस्सीओ अट्ठारस सहस्सा उक्कोसिया समणोवासियाणं संपया हुत्था"** (श्री कल्प-सूत्र वीर चरित्रे)

२—**"तएणं तीए रेवतीए गाहावइणीए तेणं दव्वसुद्धेण जाव-दाणेण सीहे अणगारे पडिलाभिए समाणे देवाउए निबद्धे, जहा विजयस्स जाव जम्म-जीवियफले रेवती गाहावइणीए।"**

(भगवतीसूत्र शतक १५)

३—**"समणस्स णं भगवतो महावीरस्स तित्थम्मि णवहिं जीवेहिं तित्थय-**

रजाम-गोते णं कम्मे णिव्वतिते, (१) सेणितेणं, (२) सुपासेणं, (३) उदातिणा (४) पोट्टिलेणं अणगारेणं, (५) दढाउणा, (६) संखेणं, (७) सतगेणं, (८) सुलसाए, (९) साविकाते रेवतीते"।

(ठाणांग सूत्र सू० ६९१)

श्रीअभयदेवसूरिकृत टीका :—

"तथा रेवती भगवत औषधदात्री ·········रेवती च बहुमानं कृतार्थमात्मानं मन्यमाना यथायाचितं तत्पात्रे प्रक्षिप्तवती। तेनाप्यानीय तद् भगवतो हस्ते विसृष्टं । भगवतापि वीतरागतयैवोदरकोष्ठे निक्षिप्तं, ततस्तत्क्षणमेव क्षीणो रोगो जातः" (ठाणांग सूत्र पाठ की टीका)

अर्थात्—१—श्रमण भगवान् महावीर की सुलसा, रेवती प्रमुख तीन लाख अठारह हज़ार श्राविकाओं की उत्कृष्ट संख्या थी।

२—उनमें से गृहपति की भार्या रेवती श्राविका ने सिंह अनगार को शुद्ध द्रव्य दान देने से देवायु का बन्ध किया और जन्म-मरण रूप संसार का भी अन्त किया (मोक्ष प्राप्त करेगी)

३—श्रमण भगवान् महावीर के जीवनकाल मे उनके तीर्थ में नौ प्राणियों ने तीर्थंकर नामगोत्र का बन्ध किया। जिनके नाम हैं—(१) श्रेणिक, (२) सुपार्श्व, (३) उदार्या, (४) पोट्टिल अनगार, (५) दृढ़ायु, (६) शंख, (७) शतक, (८) सुलसा तथा (९) **श्राविका रेवती।**

इन में से **श्राविका रेवती**, जो कि (निग्गंठ नायपुत्त) श्रमण भगवान् महावीर को औषध दान देने वाली थी। उस औषध दान देने के कारण उसने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया—यानी जिस कर्म के प्रभाव से अगले जन्म में वह तीर्थंकर पद प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करेगी। ऐसी रेवती श्राविका ने अपने आप को कृतार्थ मानते हुए सिंह मुनि (अनगार) के द्वारा मांगी हुई औषध को मुनि के पात्र में डाल दिया। उस मुनि ने भी (वह औषध) ला कर भगवान् के हाथों में रख दी। श्रमण भगवान् महावीर ने भी वीतरागता पूर्वक उसे खाया और उन का रोग शान्त हुआ।

हम तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करने के लिये सोलह अथवा बीस भावनाओं का उल्लेख कर आये हैं। श्राविका रेवती की जीवनचर्या का अवलोकन करने से इन भावनाओं में से निम्न लिखित भावनाओं का सद्भाव दान देते समय उस में था, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है:—

१—दर्शन विशुद्धि, २—अर्हत् भक्ति, ३—शील तथा बारह व्रतों का पालन, ४—विनयसम्पन्नता, ५—त्याग (दान देना), ६—वैयावृत्य, ७—साधुसमाधिकरण; इत्यादि ।

रेवती श्राविका के इस उपर्युक्त विवरण से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि —(१) वह एक श्रेष्ठ श्रमणोपासिका (१२ व्रत धारिणी श्राविका) थी। (२) निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) के लिये सिंह अनगार (निर्ग्रंथ) को शुद्ध द्रव्य से तैयार की गयी औषध का दान देने के प्रभाव से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। (३) मृत्यु उपरान्त देव लोक में गयी। (४) श्राविका उन प्रमुख श्राविकाओं में से एक थी, जो श्रमण भगवान् महावीर की तीन लाख अठारह हजार उत्कृष्ट श्राविकाएं थीं। इस पर से तथा स्तम्भ नं० २ में हम श्रावक-श्राविकाओं के आचार का जो विवरण दे आये हैं उस पर से यह स्पष्ट जान सकते हैं कि ऐसे आचार वाली **रेवती श्राविका** मत्स्य-मांस-मदिरा इत्यादि सब प्रकार की अभक्ष्य वस्तुओं की स्वयं त्यागिनी थी, क्यों कि उसे अर्हत्-वचन पर दृढ़ श्रद्धा थी और उसने बारह व्रतों को ग्रहण करते समय श्रावक के सातवें "भोगोपभोग परिमाण" व्रत में इन अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग कर दिया था। वह यह भी जानती थी कि न तो अर्हत्-प्रवचन में श्रावक-श्राविका को मांसाहार बनाने की आज्ञा है, न ही तीर्थंकर देव मांसाहार ग्रहण करते हैं, तथा निर्ग्रंथ श्रमणों को भी मासाहार लेनें एवं करने की मनाही है। कहने का आशय यह है कि सात कुव्यसनों की त्यागिनी तथा बारह व्रत-धारिणी होने के नाते मांस खरीद कर अथवा उठा कर न ला सकती थी, न पका सकती थी, और न ही स्वयं खा सकती थी। न ही निर्ग्रंथ मुनि तथा तीर्थंकर के लिये मांसाहार दे सकती थी, वह यह भी भली-भांति जानती

की कि अर्हत् प्रवचन में मांसाहार को श्रमण भगवान् महावीर ने नरक का कारण बतलाया है। मांस खाने वाले, लाने वाले तथा बनाने वाले सब को घातक (कसाई) की कोटि में गिना है। तथा यह भी बात निःसन्देह है कि जो रोग निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान महावीर) को इस समय था, जिस रोग के शमन के लिये यह औषध दान दी गयी थी, उस रोग में मांसाहार अत्यन्त हानिकारक है।[1] ऐसे विचारों से सम्पन्न तथा श्राविका के श्रेष्ठ चारित्र (व्रतों) से अलंकृत रेवती श्राविका मांसाहार बनाए, वह स्वयं खाये अथवा परिवार को बना कर खिलाये, तीर्थंकर के लिये दे और मुनि को दान में दे, यह कदापि संभव नहीं हो सकता। तथा मांसाहार के दान से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करे एवं मृत्यु उपरान्त देव गति प्राप्त करे, ये सब बातें जैन सिद्धान्त के तो विरुद्ध है ही। साथ ही इस रोग के लिये भी मांस हानिकारक होने से इस औषध दान को मांसाहार के दान की कल्पना करना नितान्त अनुचित है।

श्रमण भगवान् महावीर जैसे महान् संयमी और महान् तपस्वी, जिन्हों ने तप और संयम की साधक अवस्था में घोरातिघोर उपसर्गों तथा परीषहों को वीतराग भाव से सहन किया, नवकोटिक अहिंसा को अपनी आत्मा में एकाकार करके विश्व के सामने एक महान् आदर्श उपस्थित किया, ऐसे करुणासागर, महान् अहिंसक निग्गंठ नायपुत्त (भगवान वर्धमान-महावीर) न तो मांसाहार स्वीकार कर सकते थे और न ही सिंह अनगार को लाने के लिये आज्ञा दे सकते थे।

१—इस बात का स्पष्टीकरण आगे करेंगे।

मांसाहारी प्रदेशों में रहने वाले जैनधर्मावलम्बियों का जीवनसंस्कार तथा उनके प्रभाव वाले प्रदेशों में अन्य धर्मावलम्बियों पर उनका प्रभाव

१—भगवान् महावीर की आदर्श अहिंसा का ही यह प्रभाव है कि भूतकाल में अथवा वर्त्तमान काल में मांसाहारी प्रदेशों में भी निवास करने वाले जैनधर्मावलम्बी आज भी कट्टर निरामिषाहारी हैं ।

२—जो जातियाँ **हजारों-सैंकड़ों** वर्ष पहले जैन धर्म को मानती थीं और बाद में निर्ग्रंथ श्रमणों के विहार उन प्रदेशों में न होने से सैंकड़ों वर्षों से जैन धर्म को भूल कर अन्य संप्रदायों मे मिल चुकी है, परन्तु उनके वंशजों को अपने पूर्वजों के जैन होने का ज्ञान है, वे सराकादि जातियाँ बंगाल-बिहार जैसे आज के मांसाहारी प्रदेशों में रहते हुए भी कट्टर निरामिषाहारी है। रात्रिभोजन की भी त्यागी हैं, मद्य-मांस-मत्स्य आदि सात कुव्यसनों की भी त्यागी है, भगवान् पार्श्वनाथ को अपना कुलदेवता मान कर उनकी पूजा-उपासना भी करती हैं, मार्गानुसारी के गुणों के पालन में भी तत्पर रहती हैं, इसलिये इन्हें आज भी इस बात का गर्व है कि वे आज तक किसी भी फौजदारी अपराध से दंडित नहीं हुई ।

३—तथा जहाँ-जहाँ पर जैन धर्मावलम्बियों का आज भी प्रभाव है वहाँ रहने वाली वैष्णव, शैव आदि जातियाँ ऐसी हैं जो जैन धर्मानुयायी न होते हुए भी कट्टर निरामिषाहारी हैं ।

४—आज से **हजारों-सैंकड़ों** वर्ष पहले कई मांसाशी जातियों को कई निर्ग्रंथों ने जैन धर्म में अहिंसामयी दीक्षा दे कर ओसवाल, खंडेलवाल,

श्रीमाल, पोरवाल आदि वर्गों की स्थापना की, जो तब से लेकर आज तक कट्टर निरामिषाहारी हैं।

५——मारवाड़, मेवाड़, गुजरात आदि प्रदेशों में जहां पर अनेक गीतार्थ निर्ग्रंथों ने जैनधर्म का अनेक शताब्दियों तक प्रचार किया, उनके उपदेशों के प्रभाव से इन सब प्रदेशों की अधिकतर जनता निरामिषाहारी है।

इस से निःसंकोच स्वीकार करना पड़ता है कि श्रमण भगवान् महावीर स्वामी (निग्गंठ नायपुत्त) की अहिंसा मे यदि मत्स्य-मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण करने की आज्ञा होती तो जैनधर्मावलम्बी तथा उन के प्रभाव वाले क्षेत्र में भी आज मत्स्य-मांस आदि अभक्ष्य पदार्थ भक्षण करने की शिथिलता आये बिना कदापि न रहती।

अन्य तीर्थिकों (जैनेतरों) द्वारा जैनधर्म सम्बन्धी आलोचना में मांसाहार के आक्षेप का अभाव

अपने-अपने सिद्धान्तो के प्रचार के लिए प्रायः सभी धर्मावलम्बी अन्य धर्मों की उचित अथवा अनुचित आलोचना करते पाये जाते हैं। इसी भावना के कारण ही "न्याय-तर्क शास्त्रों का निर्माण हुआ। यदि जैन धर्मानुयायियों ने अन्य दार्शनिकों की आलोचना की है, तो अन्य दार्शनिकों ने भी जैनधर्म की आलोचना की है।

१—बौद्धों ने जैनों की तपश्चर्या तथा अनेकान्त आदि सिद्धान्तों की गलत व्याख्याएं करके इन सिद्धान्तों का अपने ढंग से खण्डन किया है। किन्तु जैनों पर मत्स्य-माँस-मदिरा आदि के खान-पान का अथवा उनका उपयोग करने का कहीं भी आक्षेप नहीं किया।

२—वैदिक विद्वानों ने जैनों के याज्ञिकहिंसा विरोध के बचाव के लिए उन पर ये तो आक्षेप किये हैं कि यदि यज्ञ में की जाने वाली पशु-हिंसा, जो कि धार्मिक मानी जाती है पापमूलक है तो तुम जैन लोग उपाश्रय, मंदिर आदि निर्माण, देवपूजा आदि धार्मिक कृत्यों में होने वाली हिंसा को अहिंसक रूप में कैसे समावेश कर सकोगे ? इसके साथ ही स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों की भी अपने ढंग से व्याख्या करके कड़ी आलोचना की है। किन्तु उस समय के विद्वानों ने जैनों पर मत्स्य-माँस-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों के आहार करने का आक्षेप बिल्कुल नहीं किया।

३—यदि कोई ऐसा तर्क करे कि शायद जैनों का साहित्य अन्य धर्मावलम्बियों के हाथ में न गया हो इसलिए जैनों के माँसाहार की

बात उन्हें मालूम न होने से जैनों पर ऐसा आक्षेप न किया हो !

परन्तु प्रथम तो यह बात ही असंभव है कि जैनों के ग्रंथ किसी भी अन्य धर्मावलम्बी ने न देखे-पढ़े हों। बौद्ध पिटकों तथा अन्य संप्रदायों के धर्मग्रंथों से स्पष्ट पता चलता है कि अनेक निर्ग्रंथ श्रमणों ने जैनधर्म को त्याग कर अन्य संप्रदायों को अङ्गीकार किया। ऐसी अवस्था में ऐसे लोगों ने जैन धर्म छोड़ने से पहले जैन शास्त्रों का पठन-पाठन, श्रवण आदि अवश्य किया ही होगा और निर्ग्रथचर्या का पालन भी किया ही होगा। अतः वे लोग जैन आचार-विचारों से पूर्णरूपेण परिचित थे। जैनधर्म का त्याग करने के बाद जैनधर्म के प्रति उनका अनादर होना भी निश्चित है। ऐसी अवस्था में यदि जैन तीर्थंकर, निर्ग्रंथ-श्रमण एवं श्रमणोपासकों के माँस-मत्स्यादिभक्षण करने का वर्णन जैनागमों में होता, अथवा वे ऐसा अभक्ष्य भक्षण करते होते, तो इसके लिए अन्य धर्मों को स्वीकार करने वाले जैनधर्म के विरोध में अवश्य मॉसाहार का आक्षेप करते।

दूसरी बात यह है कि इन तर्कवादियों की यह बात मान भी ली जाय कि जैनेतर विद्वानों के हाथ में जैन शास्त्र न आने से वे उन शास्त्रों से पूर्णरूपेण अनभिज्ञ रहे, इसलिए वे लोग जैनधर्मियों के माँसाहार करने की आलोचना न कर पाये। इस बात के उत्तर में हमें इतना ही कहना है कि यह बात तो निःसंदेह ही है कि जैनधर्मावलम्बियों के आचरण से तो सब देशवासी परिचित थे। यदि जैनधर्मावलम्बियों में किसी भी समय किसी भी रूप में मांस-मत्स्याहार का प्रचलन होता तो वे जैनों पर इसका अवश्य आक्षेप करते।

४—इसी प्रकार प्राचीन अथवा नवीन जो भी जैनधर्म से अन्य धर्म-सम्प्रदाय हैं, उन सब ने जैन धर्म की कई बातों की आलोचना की होगी, आक्षेप भी किये होंगे, किन्तु किसी भी धर्म-संप्रदाय के विद्वानों ने जैनों पर मांसाहार का आक्षेप कभी नहीं किया।

५—यदि भगवान् महावीर अथवा उनका निर्ग्रंथ-श्रमण युक्त चतुर्विध-

संघ मांसाहारी होते (चाहे वह फिर अपवाद रूप से अथवा उत्सर्ग रूप से हो) तो यह बात निश्चित है कि अन्य तीर्थिक जैनों पर मांसाहार का आक्षेप किये बिना कदापि न रहते; वे अवश्य ही इनकी अवहेलना करते। क्यों कि हम देखते हैं कि एक पंथ वाला अपने पंथ के प्रचार के लिये दूसरे पंथ के मामूलीसे दोष को पाने पर उसे बहुत बड़े रूप में बढा चढ़ा कर अथवा ठीक और निर्दोष बात को भी उस की विपरीत व्याख्या कर लोगों के समक्ष विकृत रूप में दिखाने के लिये कोई कसर बाकी उठा नहीं रखता, जिस से उस धर्म के प्रति घृणा पैदा करके जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया जा सके। ऐसा खंडन-मंडन प्रायः प्रत्येक पंथ के दर्शन शास्त्रों में पाया जाता है। तथा अनेक बार ऐसा भी देखा जाता है कि आचार सम्बन्धी भी आलोचना करके उस पंथ के विरोध में प्रचार किया जाता है।

ऐसा होते हुए भी तत्कालीन किसी भी धर्म-संप्रदाय वाले ने जैनों पर मांसाहार का आरोप नहीं लगाया। इस से यह स्पष्ट है कि जैनों में मांसाहार का पूर्ण रूप से सदा निषेध चला आ रहा है। उन के इस पवित्र आचार से सब लोग पूरी तरह से परिचित थे। ऐसी अवस्था मे उस समय यदि कोई गोपालदास पटेल या धर्मानन्द कौसाम्बी जैसा व्यक्ति ऐसा आक्षेप करने का दुःसाहस करता भी तो जनता मे उसकी प्रतिष्ठा जमने की बजाय उसे मिथ्या प्रलापी समझकर उसके प्रति अश्रद्धा हो जाना स्वाभाविक था। इस से यही फलित होता है कि जैन तीर्थंकर, निर्ग्रन्थ श्रमणादि चतुर्विध जैनसंघ कदापि मांसाहार नही करते थे।

तथागत गौतम बुद्ध की निर्ग्रन्थ अवस्था की तपश्चर्या में मांसाहार को ग्रहण न करने का वर्णन ।

हम इस निबन्ध के प्रथम खण्ड के नवमे स्तम्भ में लिख आये हैं कि गौतम बुद्ध ने कुछ काल तक निर्ग्रंथ अवस्था में रह कर निर्ग्रंथ परम्परा-मान्य तपश्चर्या को किया था। उसमें बुद्ध ने स्वयं कहा है कि मैं-१— **मत्स्य-मांस-सुरा आदि वस्तुए नहीं लेता था। २—बैठे हुए स्थान पर दिये हुए अन्न को और ३—अपने लिये तैयार किये हुए अन्न को ग्रहण नहीं करता था,** इत्यादि। (मज्झिम निकाय महासीहनाद सुत्त)

इससे यह फलित होता है कि १—यदि बुद्ध के समय निर्ग्रंथ परम्परा मे मासाहार का प्रचार होता तो गौतम बुद्ध निर्ग्रंथचर्या का पालन करते समय के वर्णन मे कदापि यह न कहते कि "मैं मत्स्य-मांस-सुरा आदि का सेवन नही करता था"। २—क्योंकि बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद तो बुद्ध तथा उनके भिक्षु मासाहार करते थे, तब जैन आदि अन्य पंथों वाले, जो इन अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करते थे, वे बौद्धों पर इस शिथिलता के लिये आक्षेप भी किया करते थे। यदि निर्ग्रंथ परम्परा मे मांसाहार का प्रचार होता तो गौतम बुद्ध अपने बचाव के लिये जैनों को उत्तर में यह अवश्य कहते पाये जाते कि तुम भी तो मासाहार करते हो ? किन्तु ऐसा आक्षेप बौद्ध ग्रंथो से कही भी उपलब्ध नही होता। ३—यदि निर्ग्रंथ परम्परा में मांसाहार का सर्वथा निषेध न होता तो सम्भवतः गौतम बुद्ध निर्ग्रंथ धर्म को त्याग करने की आवश्यकता प्रतीत न करते। उन्होंने निर्ग्रन्थचर्या की इस कठोरता के पालन करने में अपने-आप को असमर्थ पाया; इसलिये उन्हें इस मार्ग को छोड़े विना अन्य कोई उपाय

नहीं था वे निर्ग्रन्थों से अलग हो कर ही मत्स्य-मांस जैसी अभक्ष्य वस्तुओं का भक्षण कर सकते थे।

इस से यह स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थचर्या में मांसाहार की किंचिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं है।

बौद्ध, कापालिक, वेदधर्मनुयायी तथा अन्य अनेक सम्प्रदाय उस समय मांस-मत्स्यादि भक्षण करने वाले थे, ऐसी अवस्था में यदि कोई ऐसा तर्क करता हो कि जब अन्य धर्मावलम्बी मांस-मत्स्यादि का आहार करते थे तो जैन इस से कैसे बच सकते थे ? यह दलील भी इन की युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि उस समय अनेक अन्यमतावलम्बी तपस्वी भी जैनों के समान ही मांसाहार नहीं करते थे और इस का पूर्ण रूप से निषेध करते थे, ऐसा हम बौद्धग्रंथ सुत्तनिपात के चौदहवें आमगंध सुत्त में एक तपस्वी का काश्यप बुद्ध के साथ हुए संवाद से जान सकते हैं। वैसे ही, जैन भी इन अभक्ष्य-भक्षणों से सदा अलिप्त रहे हैं। तथा मांस-मत्स्य भक्षण के सर्वव्यापी प्रचार के इस युग में, ऐसे गंदे वातावरण में, भी जैन समाज इस से सर्वथा बची हुई है यह हमारे सामने प्रत्यक्ष प्रमाण है।

श्रमण भगवान् महावीर का रोग तथा उसके लिये उपयुक्त औषध ।

निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान महावीर) को चार प्रकार के रोग थे—(१) रक्त पित्त, (२) पित्त ज्वर, (३) दाह, तथा (४) रक्तातिसार रोग थे। और ये रोग उन को केवली अवस्था मे हुए थे। जो कि उन के विरोधी गोशालक के द्वारा छोडी हुई तेजोलेश्या के स्पर्श से हो गया था। तेजोलेश्या मे इतनी प्रबल दाहक शक्ति होती है कि उसके लपेट मे जो आ जाता है वह भस्म हो जाता है। इसी लिये भगवान् महावीर को इसके स्पर्श मात्र के प्रभाव से ही ऐसा दाहक रोग हो गया था। इस रोग के उपचार के लिये कौन-सी औषध उपयुक्त हो सकती है इस का निर्णय करने से पहले हम पाठको की जानकारी के लिये इस रोग के कारण, लक्षण तथा वृद्धि के कारण बतला देना चाहते है, ताकि हम जान सके कि निदान मे चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से प्राण्यग मास भक्षण करना लाभकारी हो सकता है अथवा वनस्पति से तैयार की हुई औषध ?

१–रक्त-पित्त रोग का लक्षण, भेद तथा कारण:—

रक्तपित्त त्रिधा प्रोक्तमूर्ध्वगं कफसंगतम् ।
अधोगं मारुताज्ज्ञेयं तद्द्वयेन द्विमार्गगम् ॥ १९ ॥

(सारंगधर संहिता प्र० ख० अ० ७)

अर्थात–रक्तपित्त तीन प्रकार का होता है–(१) ऊर्ध्वगामी, (२) अधोगामी, (३) उभयगामी (ऊपर व नीचे दोनो मार्गों से रक्त जाय)

ऊर्ध्वगामी—जिस रोग मे मुख, नाक आदि ऊर्ध्व मार्ग से रक्त गिरता है; वह कफ के सम्बन्ध से होता है।

अधोमार्गगामी---जिस रोग में गुदा, लिंग आदि अधोमार्ग से रक्त गिरता है; वह रोग वात के सम्बन्ध से होता है।

ऊपर और नीचे दोनों मार्गों से रक्त गिरने वाला रक्त-पित्त द्विमार्ग-गामी कहलाता है और यह वात और कफ इन दोनों कारणों से होता है।

इस प्रकार यह रोग तीन प्रकार का होता है।

रोग होने के कारण:--

अग्नि के अधिक ताप से, धूप में बहुत डोलने से, अति परिश्रम करने से, बहुत मार्ग चलने से इत्यादि अनेक कारणों से रुधिर के बिगड़ जाने से, रुधिर ऊपर के अथवा नीचे के मार्ग से अथवा दोनों मार्गों से होकर निकलता है उसे रक्तपित्त रोग कहते हैं।

इस रोग में अपथ्य---खट्टे पदार्थ, खारे पदार्थ, दही, ताम्बूल, कड़वे पदार्थ इत्यादि। (आर्यभिषक्)

२--**पित्त ज्वर के लक्षण** :---सारे शरीर में दाह, ज्वर का वेग तीव्र, तृषा, मूर्छा, अल्प निद्रा, मुँह कड़वा, अतिसार इत्यादि।

(आर्य भिषक् पृ० ५१९)

३--**दाह रोग के लक्षण** :---शरीर शुष्क तथा तप्त होना इत्यादि। यह रोग अग्नि द्वारा जलने अथवा झुलसने से, सूर्य के ताप में फिरने से, गरम पदार्थों के सेवन से अथवा पित्त के प्रकोप वगैरह से अन्तर्दाह (शरीर के अन्दर की दाह) तथा बहिर्दाह (बाहर शरीर जलता है) अथवा दोनों दाह उत्पन्न होते है। इस के सात भेद हैं--(१) रक्तपित्त दाह, (२) रक्त दाह, (३) पित्त दाह, (४) तृष्णा दाह, (५) रक्त-पूर्णोदरदाह, (६) धातु दाह, (७) मर्मघात दाह।

इस रोग में अपथ्य---रास्ते चलना, खारे तथा पित्तकर पदार्थ खाना, गरमी लेना, गरम पदार्थ खाना इत्यादि। (आर्यभिषक् पृ०५५०)।

४--**रक्तातिसार**---लहू के साथ टट्टी आना; इसे मरोड़ भी कहते हैं।

अपथ्य---मल मूत्र अवरोध, कांजीफल, स्निग्ध भोजन, तथा भारी पदार्थ इत्यादि। (आर्यभिषक् पृ०४९१-९२)

यहाँ पर हमने भगवान् महावीर के रोग, उसके होने के कारण, लक्षण, तथा अपथ्य आदि का विस्तृत स्वरूप वर्णन कर दिया है; जिस का संक्षेप इस प्रकार है ।

गोशालक के तेजोलेश्या छोड़ने पर उस के तीव्र ताप के कारण भगवान् को अधोगामी रक्त-पित्त, तथा रक्तातिसार हो जाने के कारण खून की टट्टियाँ लग गयी थीं। पित्तज्वर तथा दाहरोग भी थे, जिनके कारण तीव्र ज्वर तथा शरीर में बहुत अधिक जलन भी थी। ये रोग गरम, स्निग्ध, भारी पदार्थ तथा खट्टे, खारे, कड़वे पदार्थों के सेवन से बढ़ते है।

हम यहाँ पर इस बात का विचार करेंगे कि इस रोग में मांसाहार लाभकारी है अथवा घातक ?

मांस के गुण और दोष—

"स्निग्धं, उष्ण, गुरु, रक्त-पित्तजनकं वातहर च।
सर्वमांसं वातध्वंसि वृष्यं॥"

अर्थात्—मांस स्निग्ध, गरम, भारी, रक्त-पित्त को पैदा करने वाला तथा वात को दूर करने वाला है। सब प्रकार के मांस वातहर तथा भारी है।

यदि भगवान् महावीर के रोग का विचार करे तो यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि मुर्गे का मांस इस रोग को निवारण नहीं कर सकता, क्योंकि मास इस रोग को उत्पन्न तथा वृद्धि करने वाला है; यह आयुर्वेद शास्त्र का स्पष्ट मत है।

अतः इस से यही फलित होता है कि भगवान् महावीर पर मांसाहार का दोष लगाना नितान्त अनुचित है।

इस लिये रेवती श्राविका द्वारा इस औषध दान में जो द्रव्य दिया गया था वह कुक्कुट मांस (मुर्गे का मास) कदापि नहीं था, किन्तु कोई वनस्पति विशेष थी। यह औषध कौनसी थी इस का निर्णय हम आगे करेंगे।

(११)

विवादास्पद प्रकरण वाले पाठ में आने वाले शब्दों के वास्तविक अर्थ

(१) मांस शब्द की उत्पत्ति का इतिहास

प्रारम्भ में मांस शब्द किसी भी पदार्थ के गर्भ अर्थात् भीतरी सार भाग के अर्थ में प्रयुक्त होता था। धीरे-धीरे यह शब्द मनुष्यादि प्राणधारियों के तृतीय धातु के अर्थ में तथा वनस्पति जनित फल मेवों आदि के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

वैदिक धर्म के सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ "ऋग्वेद् "में पशुयज्ञों का तथा ाह्मणों के माम खाने का वर्णन नहीं है। ैदिक निघण्टु में मांस शब्द अथवा मांस का कोई अन्य नाम नहीं मिलता। परन्तु उस समय मांस था तो अवश्य। प्राचीन वेद तथा प्राचीन वैदिक कोश में इसका उल्लेख न होने का कारण यही है कि तत्कालीन ऋषि लोग प्राणी के अंग रूप मांस का किसी कार्य में इस्तेमाल नहीं करते थे। इस लिये उनको बनाई हुई वैदिक ऋचाओं मे मांस शब्द नहीं आता था और न ही उसे वैदिक निघण्टु में लिखने की आवश्यकता थी।

बाद में ऋग्वेद में कुछ सूक्त प्रक्षिप्त हुए, उन सूक्तों में मांस और *क्रविष् ये दो शब्द पाये जाने लगे। अथर्ववेदसंहिता में मांस शब्द के* उपरान्त पिशित और क्रविष् शब्द मिलते हैं। यद्यपि वेद में **आम** शब्द कच्चे मांस को कहते हैं। परन्तु आचार्य यास्क के मत से वेद काल में **आम** शब्द सामान्य मांस में प्रयुक्त होता होगा। जैन और बौद्ध संप्रदायों के प्राचीन सूत्रों मे आने वाले **आमगन्ध** शब्दों के **'आम'** इस शब्द का मांस के अर्थ में ही प्रयोग किया गया है। इस से प्रतीत होता है, कि आज से ढाई हजार

वर्ष और इस से पहिले **मांस, पिशित, आम और क्रविष्** ये चार शब्द मांस के अर्थ में प्रयुक्त होते थे।

(२) मांस के नामों में वृद्धि

ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक मांस के चार नाम ही प्रचलित थे। इन में से आम और क्रविष् वैदिक नाम होने के कारण लोकव्यवहार में से लुप्त हो गये, परन्तु मास के कुछ नये नाम भी प्रचलित हो गये, जिनका क्रमिक इतिहास इस प्रकार है। "अमर कोश" जो कि विद्यमान सब शब्द कोशों से प्राचीन है—पांचवीं शताब्दी की कृति है—उसमें मांस के छः नाम मिलते हैं। इसके छः तथा सात सौ वर्ष बाद अथवा ग्यारहवीं, बारहवीं, शताब्दी मे होने वाले वैजयन्ती तथा अभिधानचिन्तामणि कोशों मे क्रमशः बारह तथा तेरह नाम सग्रह हुए है.—

"मांसंपललं जांगले । रक्तात् तेजोभवेक्रव्यकाद्यपं तरसामिषे ॥ ६२२। मेदस्कृत् पिशितं कीनं पलम् ॥

(अभिधानचिन्तामणि)

उक्त मांसादि नामों के अर्थों का विचार करने से स्पष्ट होता है कि मांस, जिसका अर्थ प्राणि-अग होता है, यह मनुष्य के खाने का पदार्थ नहीं था।

प्रत्येक नाम सदा के लिये एक ही अर्थ मे प्रयुक्त नहीं होता। कई ऐसे नाम है जो प्रारंभ में एकार्थक होते हुए भी हजारों वर्षों के बाद अनेकार्थक बन चुके हैं, जैसे—अक्ष, मधु, हरि आदि नाम। कई अनेकार्थक नाम हजारों वर्षों के बाद एकार्थक बन जाते हैं, जैसे मृग, फल मांस आदि शब्दों के अर्थ गर्हित हो जाने के कारण उन अर्थों का त्याग हो जाता है। कोशकार अपने समय में जो शब्द जिस अर्थ का वाचक होता है, सो उसी अर्थ का प्रतिपादक बताते हैं। लुप्तार्थों तथा भविष्यत् अर्थों की कल्पना में वे कभी नहीं पडते। ज्यों ज्यों जिस पदार्थ के नाम बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों आगे के कोशकार अपने कोश में संग्रह करते जाते हैं।

(३) वनस्पत्यंग मांस आदि

जिस प्रकार मनुष्यादि प्राणधारियों के शरीर में (१) रस, (२) रुधिर, (३) मांस, (४) मेदस् (५) अस्थि, (६) मज्जा, और (७) वीर्य—ये सात धातु है, उसी प्रकार अति प्राचीन काल में वनस्पतियों के भी रसादि सात धातु माने जाते थे ।

१–मनुष्यादि प्राणधारियों का शरीरावरण चर्म अथवा त्वचा कहलाता है, उसी प्रकार वनस्पतियों के शरीर का आवरण भी चर्म अथवा त्वक् कहलाता है ।[1]

२–मनुष्यादि प्राणधारियों के आहार से तैयार हुआ सत्व रस कहलाता है वैसे ही वनस्पतियों में रहा हुआ जल भाग रस कहलाता है ।[2]

३–प्राणधारियों के शरीर से निष्पन्न तत्त्व रुधिर कहलाता है वैसे ही वनस्पतियों में तैयार होने वाला स्राव उनका रुधिर कहलाता है ।[3]

४–प्राणधारियों के रुधिर से बनने वाला ठोस पदार्थ मांस कहलाता है वसे ही वनस्पतियों से मिलने वाला सार भाग (गूदा) मांस कहलाता है ।[4]

१—शमी-पलाश-खदिर-बिल्वा-श्वत्थ-विकङ्कत-न्यग्रोध-पनसा-ऽऽम्र-शिरीषोदुम्बराणां सर्वयाज्ञिकवृक्षाणां चर्मकषायकलशेनाऽभिषिञ्चति × × × (बोधायन गृह्यसूत्र पृ० २५५)

अर्थात् शमी, पलाश, खदिर, बिल्व, अश्वत्थ, विकङ्कत, न्यग्रोध, पनस, आम्र, शिरीष, उदुम्बर इन वृक्षों तथा अन्य सर्व याज्ञिक वृक्षों के चर्म (छिलके) के चूर्ण से मिले जल भरे कलश से (विष्णुमूर्ति का) अभिषेक करें ।

२—तस्मात्तदा तृणात्प्रैति रसो वृक्षादि वाहतात् (बृहदारण्यकोपनि०)

अर्थात्--जिस प्रकार वृक्ष पर प्रहार करने से रस निकलता है वैसे ही वृक्ष पुरुष के परोह से रस निकलता है।

३—त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः (बृहदारण्यकोपनि०)

अर्थात्—इसका रुधिर स्राव है जो त्वचा (छिलके) के भीतर से झरता है ।

४—खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलम् (चरक संहिता)

५–प्राणधारियों के मांस से मेदस् (मेदो, किनाट) धातु बनता है, वैसे वृक्षों के अंग-प्रत्यंगों से मेदस् सदृश स्राव निकलता है, उसे वनस्पति का मेदो धातु कहते हैं।[५]

६–प्राणधारियों के शरीर में रहने वाले कठोर भाग को अस्थि कहते हैं, वैसे वनस्पतियों के शरीर में रहने वाले (गुठली-बीजों) को अस्थि कहते हैं।[६]

७–प्राणधारियों की अस्थियों में होने वाले स्निग्ध पदार्थ को मज्जा धातु कहते हैं, वैसे फलों की गुठलियों तथा बीजों में से निकलने वाले स्निग्ध पदार्थ को वृक्ष की मज्जा कहते हैं।[७]

८–प्राणधारियों के अंतिम धातु को रेतस् अथवा वीर्य आदि नाम प्राप्त हैं, वैसे वनस्पतियों में भी अमुक-अमुक प्रकार की शक्तियाँ रहती हैं। उनको शीतवीर्य, उष्णवीर्य, आदि नामों से कहते हैं।[८]

९–प्राणधारियों के शरीर पर के रोम रोंगटे और सिर पर के रोम-बाल कहलाते हैं, वैसे ही वनस्पतियों के शरीर पर भी रोम तथा बाल

अर्थ–खजूर का मांस (गूदा) और नारियल का मास (गिरी)।

५–मांसान्यस्य शकराणि कीनाटं स्नावतत् स्थितम् (बृहदार०)

अर्थ–भीतर के सार भाग के टूकड़े इसका मांस और स्निग्ध जमा हुआ स्राव इस का किनाट (मेदोधातु) है।

६–अस्थिबीजानां शकृदालेप शाखिनां गर्त्तदाहो गोऽस्थि-शकृद्भि: काले दोहदं च। (कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० ११८)

अर्थ–अस्थि (गुठली) और बीज वाले वृक्षों के बीजों को गोबर का लेप करके बोना चाहिये।

७-८–वातादमज्जा मधुरा, वृष्या तिक्ताऽनिलापहा।
स्निग्धोष्णा कफकृन्नेष्टा, रक्तपित्तविकारिणाम्॥१२५॥

(भावप्रकाश नि०)

अर्थ–बादाम की मज्जा (गिरी) मीठी, पुष्टि कारक, वायु को नाश करने वाली, रक्तपित्त के रोगियों को हानिकारक, स्निग्ध, उष्णवीर्य,

माने जाते हैं। ९

१०—जैसे प्राणधारियों में आंत होती है, वैसे फलों में भी आंतें मानी गयी हैं। जिनके द्वारा फल में रहे हुए बोज के शिराओं, गूदे मेदस् को रस पहुँचता है; उन रेशों को वैद्य लोग अन्त्र कहते हैं। १०

सुश्रुत संहिता में इनसे भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है, जो नीचे दिया जाता है।

चूतफले परिपक्वे केशर-मांसा-ऽस्थि-मज्जानः पृथक्-पृथक् दृश्यन्ते, कालप्रकर्षात्। तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते, सूक्ष्मत्वात्। तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां कालः प्रव्यक्ततां करोति।

(सुश्रुत संहिता शा० आ० ३ श्लो० ३२)

अर्थ—पके आम के फलों में केशर, मांस, अस्थि, मज्जा प्रत्यक्ष

(गरक) और कफ़ करने वाली होती है।

९—स वा एष पशुरेवालभ्यते, यत् पुरोडाशस्तस्य किंशारूणि तानि रोमाणि, ये तुषाः सा त्वक्, ये फलीकरणास्तदसृक्, यत् पृष्ठं किक्नसाः, यत् सारं तन्मांसं, यत्किञ्चित् कंसारं तदस्थि, सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते तस्मादाहुः पुरोडाशसत्रं लोक्यमिति (द्वितीय पञ्जिका अ० पृ०११५)

अर्थः—यह पशु का ही आलभन किया जाता है, जो पुरोडाश तैयार करते हैं (उस में) यव व्रीहि पर जो किंशारू (शूक) होते हैं, वे इन के रोम हैं, इन पर जो तुष है वह इनका चर्म हैं, जो फलीकरण है वह इनका रुधिर है, जो पृष्ठ है वह इसकी रीढ़ है, इसका जो कुछ सार भाग है वह मांस है, इनका जो कसार (ऊपर का कठोर भाग) है वह अस्थि है, जो इस पुरोडाश से यज्ञ करता है, वह सब पशुओं से यज्ञ करता है। इस वास्ते पुरोडाश को लोकहितकारी सत्र कहते हैं।

१०—समुत्सृज्य ततो बीजान्, अन्त्राणि तु समुत्सृजेत्।
तानि प्रक्षाल्य प्रक्षाल्य तोयेन प्रवण्यां निक्षिपेत् पुनः॥

(पाकदर्पण पृ० २५)

अर्थ—उसमें से बीज तथा आंतें निकाल दें, फिर उसे धो डालें और बाद में प्रवणी में रखे।

रूप से दिखलाई देते हैं। परन्तु कच्चे आम में ये अंग सूक्ष्म अवस्था में होने के कारण अलग-अलग दिखलाई नहीं देते। उन सूक्ष्म केश आदि को समय व्यक्त रूप देता है।

४—मांसादि शब्दों के अंग्रेजी कोशकारों के अर्थ

मांस (संस्कृत) = 1—Flesh. स्नायु का समूह।

2—The flesh of fish. मछली का मांस।

3—The fleshy part of a fruit. फल का गूदा, गिरी अथवा नरम भाग।

(आप्टेकृत संस्कृत-अंग्रेजी डीक्शनरी पृ० ७५३)

Flesh अर्थात्—मांस इस शब्द का अर्थ निम्न है—

1—The muscular part of animal.
प्राणी का स्नायु।

2—Soft pulpy substance of fruit.
फल का नरम भाग, गूदा।

3—That part of root, fruit etc, which is fit to be eaten.
कन्द, फल आदि में जो भाग खाया जा सके, वह भाग।

Stone—पत्थर इस शब्द का अर्थ निम्न है—

1—Stone of a mango.
आम की गुठली

2—Stone in bladder.
पत्थरी।

(English Dictionary by J. Ogilvie)

५—वर्तमान में माने जाने वाले प्राणीवाच्य शब्दों तथा मांस मत्स्यादि शब्दों के अनेक अर्थ

'पलल'—आजकल यह शब्द माँस का नाम माना जाता है, परन्तु

यह शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे कि:—

"पललं तिलचूर्णं स्यान्मांसं कर्दमभेदयोः।" (वैजयन्ती)

अर्थ—पलल यह तिलचूर्ण का नाम है तथा मांस और कीचड़ के भेद में भी यह व्यवहृत होता है।

'अनिमिष'—शब्द से आजकल विद्वान केवल मत्स्य को ही समझ लेते हैं। परन्तु इसके पांच अर्थ होते है। जैसे कि :—

"अथामरे झवे। अनिमेषोऽप्यनिमिषोऽप्यथ चांडालशिष्ययोः। स्यादन्तेवासीति + + +।" (वैजयन्ती)

अर्थ—अनिमेष तथा अनिमिष शब्द देव, मत्स्य, चांडाल, शिष्य और अन्तेवासी (निकटवर्ती आज्ञाकारी मनुष्य) के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

'पेशी'—शब्द आजकल के विद्वानों के विचार में मांस के टुकड़ों अथवा मांस बल्ली के अर्थ में ही प्रचलित है। परन्तु वास्तव में इस के अनेक अर्थ होते हैं। सो ज्ञात करें—

"पेशी मांस्यसिकोशयोः ! मण्डभेदे पलपिण्डे सुपक्वकणिकेऽपि च।" (अनेकार्थसंग्रह)

अर्थ—पेशी, तलवार की म्यान, पक्वान्न के भेद, मांस के पिंड, घृत पक्व कणिका—इतने पदार्थों के नाम हैं।

'शश'—शब्द सामान्य रूप से खरगोश के अर्थ में प्रसिद्ध है, परन्तु यह शब्द दूसरे भी अनेक पदार्थों का वाचक है, जैसे कि—

"शशः पशौ ॥५५८॥ बोले लोध्रे नृभेदे च।" (अनेकार्थ)

अर्थ—शश—खरगोश पशु, हीराबोल, लोध्र और पुरुष विशेष होता है।

'आमिष' शब्द का अर्थ वर्तमान समय में मांस किया जाता है; परन्तु इसके और भी अनेक अर्थ होते हैं, जैसे कि :—

आमिषं पले ॥ १३३० ॥ सुन्दराकाररूपादौ सम्भोगेलोभ-लञ्चयोः ।(अनेकार्थ)

अर्थ—आमिष—मांस, सुन्दराकार रूप आदि, सम्भोग, लोभ और रिशवत है।

'पल' शब्द का अर्थ आजकल एक तरह का तोल, काल विशेष और मांस के अर्थ में प्रसिद्ध है। परन्तु पहले इसके निम्न अर्थ समझे जाते थे—

"पलः पलालो धान्यत्वक् तुषो बुसे कडंगराः" ॥ ११८२ ॥ (अभिधानचिंतामणि)

अर्थात्—पल, पलल, धान्य का छिलका, तुष और कडंगर ये भूसे के नाम है।

'अज' नाम से आज बकरा और विष्णु का अर्थ समझा जाता है, किन्तु इसके अर्थ स्वर्ण माक्षिक, धातु, पुराने धान्य, जो उगने की शक्ति नष्ट कर चुके हों, होते है। (शालिग्राम औषध शब्द सागर)।

ये सब उपर्युक्त उद्धरण देने का आशय यह है कि मांस, मज्जा, अस्थि आदि शब्द जिस प्रकार प्राणियों के अगों के लिये आते है उसी प्रकार वनस्पति के अगो के लिये भी आते हैं। तथा जिन शब्दों का अर्थ हम प्राणी समझते हैं, उन शब्दों का प्रयोग वनस्पति और पक्वानों आदि खाद्य पदार्थों के लिये भी होता है। ऐसी परिस्थिति मे लिखे गये शास्त्रों के विवरणों के अर्थनिर्णय मे विद्वानों द्वारा गल्ती होना असंभव नही है। यही कारण है कि वेदों, जैनागमो तथा बौद्धपिटकों में आने वाले तत्कालीन खाद्यपदार्थों के अर्थ में आने वाले शब्दो को प्रसंगों तथा परिस्थितियों का विचार किए बिना अर्थ का अनर्थ करके आज कल के कतिपय विद्वानों ने अनेक प्रकार की विकृतियां घुसेड़ दी हैं।

अब हम इस विषय को लम्बा न करके यहां पर कुछ ऐसे शब्दों की सूचि देते हैं जिन के अर्थ वनस्पति और प्राणी दोनों होते हैं।

६—शब्द जो प्राणधारी और वनस्पति दोनों के वाचक हैं—

नाम	प्राणी-अर्थ	वनस्पति-अर्थ
रावण	लंका का राजा	तन्दुल फल, इन्द्रायन
लक्ष्मण	राम का भाई	प्रसरकटाली, जड़
राम	दशरथ का बेटा	चिरायता
सुरप्रिया	देवी, देवांगना	चमेली पुष्प
ब्रह्मा	चार मुंह वाला ब्रह्मा	पलाश पापड़ा
विभीषण	रावण का भाई	वरकुल मूल
विष्णु	विष्णु अवतार	पीपल वृक्ष
लक्ष्मी	विष्णुपत्नी	काली मिरच
शिव	शंकर	हरड़
पार्वती	भवानी, शिवपत्नी	देशी हल्दी
कृष्ण	देवकीनन्दन	अजपीपल
कपि	बन्दर	शिलारस
आम	मांस	आम्र फल
शश	खरगोश	लोध्र
बालक	बच्चा	मोथे
कलभ	हाथी का बच्चा	धतूरे का वृक्ष
गोकर्ण	गाय का कान	अपराजिता
गो जिह्वा	गाय की जीभ	गोभी
गोशीर्ष	गाय का सिर	चन्दन
काक, काकशीर्ष	कौआ, कौए का सिर	अगस्त्य वृक्ष
तुरंग	घोड़ा	सेंधा नमक
पेशी	मांसपिंड	जटामांसी
महामुनि	बड़ा साधु	धनिया
मार्जार	बिल्ली	अगस्त्य वृक्ष, हिंगोटी वृक्ष, विदारीकन्द, लवंग इत्यादि

राजपुत्र	राजकुमार	कल्मीशोरा
वराह	सूअर	नागरमोथा
श्वदंष्ट्रा	कुत्ते की दाढ़	गोखरू
विप्र	ब्राह्मण	पीपल का वृक्ष
जटायु	पक्षी विशेष	गुग्गुल
वानरी, मर्कटी,	बन्दरी	कौंच के बीज
वानरीबीज, कपि	बन्दर	कौंच के बीज
मांसफल	मांस	बेंगन
कोकिला, कोकिलाक्ष	कोयल, कोयल की आंख	ताल मखाने
हस्तिकर्ण	हाथी का कान	लाल एरंड की जड़
त्वक्	चमडी	छिलका
अस्थि	हड्डी	बीज, गुठली
भुजंग	सांप	नागकेसर
तरुणी	जवान स्त्री	गुलाब

७—वर्त्तमान काल में कुछ प्रचलित शब्द

शब्द	प्राणी वाचक	वनस्पतिवाचक
कुक्कुड़ी-कुक्कुड़	मुर्गी, मुर्गा (पजाब गुजरात)	भुट्टे (उत्तरप्रदेश)
भाजी	मांस (मुलतान-सिंध देश)	राधा हुआ शाक
गलगल	गुट्टहार पक्षी	बीजोरा, फल विशेष
तरकारी	मास (उत्तर पंजाब)	साग, सब्जी (राजस्थान)
चील	चील पक्षी (उत्तरप्रदेश)	चील शाक की भाजी
गीलहोड़ी	गिलहरी (उत्तरप्रदेश)	शाक

लज्जालु	स्त्री	छुई-मुई पौधा
पोपटा	विभक्त अंग (मालवा)	हरा चना (गुजरात)
चूत	विभक्त अंग	आम्र फल
छाल्ली	बकरी	भुट्टे (पंजाब)

उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग आज कल की चालू भाषा में भी प्राणियों तथा वनस्पतियों दोनों में होता है, एवं प्राणियों के अंगों तथा वनस्पतियों के अंगों के लिए भी ऐसा ही है। तथा यह भी स्पष्ट है कि एक शब्द का अर्थ :—देश, काल और भाषा आदि की अपेक्षा से भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। इस लिये सुज्ञ पुरुष वही है जो प्रसंग, परिस्थिति, देश, काल, भाषा एवं व्यक्ति के चरित्र आदि को समझ कर उसके अनुकूल अर्थ को स्वीकार करे।

८—श्रमण भगवान् महावीर और भक्ष्याभक्ष्य विचार

भगवतीसूत्र शतक १८ उद्देशा १० में श्रमण भगवान् महावीर तथा सोमिल नामक ब्राह्मण का एक प्रसंग आता है। उस में वर्णन है कि एकदा भगवान् वाणिज्य ग्राम में पधारे। वहाँ सोमिल नामक ब्राह्मण रहता था। वह धनाढ्य, अपरिभूत सामर्थ्यवान् तथा ऋग्वेद आदि समस्त ब्राह्मण शास्त्रों का पारंगत विद्वान था। वह पांचसौ शिष्यों तथा बहुत बड़े कुटुम्ब का अधिपति था। एक दिन वह प्रभु महावीर के पास समवसरण में आया और उसने अनेक कूट प्रश्न पूछे। उन में कुछ प्रश्न भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी भी पूछे, सो उसका विवरण इस प्रकार है :—

[प्रश्न] [1]सरिसवा ते भंते ! किं भक्खेया, अभक्खेया ? [उत्तर] सोमिला! सरिसवा [मे] भक्खेया वि अभक्खेया वि। [प्र०] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—'सरिसवा भक्खेया वि अभक्खेया वि ? [उत्तर] से नूणं ते सोमिला! बंभन्नएसु नएसु दुविहा सरिसवा पन्नत्ता,

१. 'सरिसव' श्लिष्ट प्राकृत शब्द है। इसका एक अर्थ सर्षप (सरसों) होता है और दूसरा अर्थ समानवयस्क मित्र होता है।

तं जहा मित्त-सरिसवा य धन्नसरिसवा य। तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवा ते तिविहा पन्नत्ता, तं जहा-सहजायया, सहवड्डियया, सहपंसुकीलियया, ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नसरिसवा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा–सत्थपरिणया य असत्थपरिणया य, तत्थ णं जे ते असत्थ-परिणया ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते सत्थपरिणया ते दुविहा पन्नत्ता, त जहा–एसणिज्जा य अणेसणिज्जा य। तत्थ णं जे ते अणेसणिज्जा ते समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते एसणिज्जा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा–जाइया य अजाइया य। तत्थ णं जे ते अजाइया ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते जाइया ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा–लद्धा य अलद्धा य। तत्थ णं जे ते अलद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ ण जे ते लद्धा ते णं समणाणं निग्गंथाणं भक्खेया, से तेणट्ठेणं सोमिला! एवं वुच्चइ–जाव अभक्खेया वि'

अर्थात्—(प्रश्न) हे भगवन्! सरिसव को आप भक्ष्य मानते हैं अथवा अभक्ष्य? (उत्तर) हे सोमिल! सरिसव मुझे भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है। (प्रश्न) हे भगवन्! इसका क्या कारण है? (उत्तर) हे सोमिल! तुम्हारे ब्राह्मण ग्रन्थों मे दो प्रकार का सरिसव कहा है, (१) मित्र सरिसव-समानवयस्क (२) और धान्य सरिसव। इस मे जो मित्र सरिसव है वह तीन प्रकार का है: (१) साथ जन्मा हुआ, (२) साथ में पला हुआ, और (३) साथ में खेला हुआ। ये तीनों प्रकार के सरिसवा (समानवयस्क) मित्र श्रमण निर्गंथों को अभक्ष्य हैं। जो धान्य सरिसव है, वह दो प्रकार का है · शस्त्रपरिणत और अशस्त्रपरिणत इस मे जो अशस्त्रपरिणत-अग्नि आदि शस्त्र से निर्जीव नही हुआ—वह श्रमण निर्ग्रंथों को अभक्ष्य हैं। और जो शस्त्रपरिणत (अग्नि आदि से निर्जीव हुआ) है वह दो प्रकार का है: (१) षणीय-इच्छा करने योग्य, निर्दोष (२) अनेषणीय न इच्छा करने योग्य-सदोष। इस में जो अनेषणीय है वह श्रमण निर्ग्रंथों को अभक्ष्य है। जो एषणीय सरसों है

वह दो प्रकार की है : (१) याचित---माँगी हुई (२) अयाचित-नहीं मांगी हुई। इस में जो अयाचित सरसों है वह श्रमण निर्ग्रंथों को अभक्ष्य है। जो याचित सरसों हैं वह भी दो प्रकार की है : (१) प्राप्त हुई और (२) न प्राप्त हुई। इस में जो नहीं मिली वह श्रमण निर्ग्रन्थों को अभक्ष्य है। जो सरसों श्रमण निर्ग्रंथों को मिल गयी हो मात्र वह भक्ष्य है। हे सोमिल ! इस लिए में कहता हूँ कि सरिसव भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है।

(प्र०) मासा ते भंते! किं भक्खेया, अभक्खेया ? (उ०) सोमिला! मासा भक्खेया वि अभक्खेया वि (प्र०) से केणट्ठेणं जाव अभक्खेया वि ? (उ०) से नूणं ते सोमिला! बभण्णएसु नएसु दुविहा मासा पन्नत्ता, तं जहा-दव्व-मासा य कालमासा य। तत्थ णं जे ते कालमासा ते णं सावणाईया आसाढ-पज्जवसाणा दुवालसं पन्नत्ता, तं जहा-सावणे, भद्दवए, आसोए, कत्तिए, मग्गसिरे, पोसे, माहे, फग्गुणे, चित्ते, वइसाहे, जेट्ठामूले, आसाढे, ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते दव्वमासा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—अत्थमासा य धन्नमासा य। तत्थ णं जे ते अत्थमासा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा-सुवन्नमासा य रुप्पमासा य, ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नमासा ते दुविहा पन्नत्ता, तंजहा-सत्थपरिणया असत्थपरिणया य-एवं जहा धन्नसरसिवा जाव से तेणट्ठेणं जाव अभक्खेया वि।

अर्थात्---(प्र०) हे भगवन्! 'मास' भक्ष्य है कि अभक्ष्य ? (उ०) हे सोमिल! मास भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है। (प्र०) हे भगवन्! यह किस कारण से आप कहते हैं कि 'मास' भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है ? (उ०) हे सोमिल! ब्राह्मण ग्रंथों में 'मास' दो प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार---द्रव्य मास और काल मास। इन में जो काल मास है वह सावन से ले कर आषाढ़ तक बारह महीने हैं, वे इस प्रकार—श्रावन भादों, आसोज, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पोष, माघ, फाल्गुण, चैत्र, वैसाख, जेठ, और आषाढ़, ये श्रमण निर्ग्रंथों को अभक्ष्य हैं। इन में जो द्रव्य मास है—वह भी दो प्रकार का है, सो इस प्रकार—अर्थ मास और

धान्य मास। उस में जो अर्थ मास है, वह भी दो प्रकार—"स्वर्णमास और रौप्यमास। यानी चांदी का मासा, सोने का मासा (एक प्रकार के तोलने के बांट)। ये भी श्रमण निग्रंथों को अभक्ष्य हैं। जो धान्य माष (उड़द) हैं, वे भी दो प्रकार के हैं—शस्त्रपरिणत (अग्नि आदि से अचित्त हुए) और अशस्त्रपरिणत (अग्नि आदि से अचित्त नहीं हुए—सजीव)। इत्यादि जैसे धान्य सरसों के लिये कहा वैसा धान्य माष (उड़द) के लिये भी समझ लेना। यावत्—वह इस हेतु से अभक्ष्य भी है।

यानी—अग्नि आदि से अचित्त उडद भी दो प्रकार का है–एषणीय और अनेषणीय (साधु के निमित्त आदि से न रांधा हुआ निर्दोष और साधु के निमित्त से राधा हुआ सदोष)। इस में जो अनेषणीय है वह श्रमण निग्रंथों को अभक्ष्य है। एषणीय उड़द भी दो प्रकार के हैं: याचित (मांगे हुए) अयाचित (न मांगे हुए)। इन में जो अयाचित रांधे हुए उडद है वे श्रमण निग्रंथों को अभक्ष्य हैं। और जो याचित रांधे हुए उड़द हैं वे भी दो प्रकार के हैं–मिले हुए (प्राप्त), न मिले हुए (अप्राप्त)। इन मे जो नही मिले ऐसे रांधे हुए उडद श्रमण निग्रंथों को अभक्ष्य हैं। और जो रांधे हुए मागने पर प्राप्त हो गये है, ऐसे निर्दोष उडद श्रमण निग्रंथो को भक्ष्य (खाने योग्य) है। हे सोमिल! इस कारण से 'मास' भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है।

(प्र०) कुलत्था ते भंते! किं भक्खेया, अभक्खेया? (उ०) सोमिला! कुलत्था भक्खेया वि अभक्खेया वि। (प्र०) से केणट्ठेण जाव अभक्खेया वि? (उ०) से नूणं सोमिला! तं बंभन्नएसु नयेसु दुविहा कुलत्था पन्नत्ता, तं जहा—इत्थि कुलत्था य धन्नकुलत्था य। तत्थ णं जे ते इत्थिकुलत्था ते तिविहा पन्नत्ता, तं जहा-कुलकन्नया इ वा कुलवहुया ति वा कुलमाउया इ वा, ते णं समणाणं निग्गंथाणं अभक्खेया। तत्थ णं जे ते धन्नकुलत्था एवं जहा धन्नसरिसवा, से तेणट्ठेणं जाव अभक्खेया वि। (भगवती शतक १८ उद्देशा १०)

अर्थात्—(प्र०) हे भगवन् ! आप कुलत्था भक्ष्य मानते हैं अथवा अभक्ष्य ? (उ०) हे सोमिल ! कुलत्था भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है। (प्र०) हे भगवन् ! किस हेतु से भक्ष्य है ? किस हेतु से अभक्ष्य है ? (उ०) सोमिल ! तुम्हारे ब्राह्मण शास्त्रों में कुलत्था दो प्रकार का कहा है—स्त्रीकुलत्था (स्त्री) और धान्यकुलत्था (कुलथी)। इसमें जो स्त्री-कुलत्था है वह तीन प्रकार का है, वह इस प्रकार—कुलकन्या, कुलवधू और कुलमाता। ये सब श्रमण निर्ग्रंथों के लिये अभक्ष्य हैं। इस में जो कुलथी अनाज है, इत्यादि वक्तव्यता सरसों धान्य के समान जानना। इसलिये यह भक्ष्य भी है, अभक्ष्य भी है।

यानी—अग्नि आदि से अचित्त, एषणीय, याचित, प्राप्त निर्दोष कुलथी अनाज ही श्रमण निर्ग्रंथों को भक्ष्य है। बाकी अन्य सब कुलत्था अभक्ष्य हैं।

सारांश यह है कि—भगवतीसूत्र में निगंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) ने—"सरिसव, मास तथा कुलत्थ" इन तीनों शब्दों के अर्थ प्राणिपरक, द्रव्यपरक तथा वनस्पतिपरक भी बतलाये हैं। उनमें से उन्होंने स्पष्ट कहा है कि प्राणिपरक तथा द्रव्यपरक आदि पदार्थ तीर्थंकरों तथा निर्ग्रंथ श्रमणों एवं श्रमणीयों के लिये सर्वथा अभक्ष्य हैं। वनस्पतिपरक पदार्थों मे से भी जो वनस्पतियाँ अग्नि आदि के प्रयोग से निर्जीव हैं और यदि वे निर्ग्रंथ श्रमण के लिये तैयार न की गयी हों तो उसमे से आवश्यकता पड़ने पर निर्ग्रंथ श्रमण को माँगने पर प्राप्त हो गया हो ऐसा निर्दोष आहार निर्ग्रंथ श्रमण के लिये भक्ष्य है। अन्य सब प्रकार का आहार हमारे लिये अभक्ष्य है।

इससे स्पष्ट है कि श्रमण भगवान महावीर तथा उनके निर्ग्रंथ श्रमण सामिषाहार कदापि ग्रहण नहीं कर सकते। तथा यह भी स्पष्ट है कि क शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; उन अर्थों में से जिस प्रसंग पर जो अर्थ उपयुक्त है वही अर्थ करना साक्षर व्यक्ति का कर्तव्य है और ऐसा करने मे ही उसकी विद्वत्ता की सच्ची कसौटी है। अनुचित अर्थ करना

विद्वत्ता के लिए शोभाप्रद नही है किन्तु विद्वत्ता को दूषित करने वाला है।

अब हम यहाँ पर 'विवादास्पद' सूत्रपाठ के वास्तविक अर्थ के लिये विचार करें।

९--भगवतीसूत्र का (विचारणीय) मूल पाठ इस प्रकार है :--

"तत्थ णं रेवतीए गाहावइणीए मम अट्ठाए दुवे कवोय-सरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो । अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि । एएणं अट्ठो ।

(भगवतीसूत्र, शतक १५)

समर्थ शास्त्रज्ञ नवांगीटीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि द्वारा की गयी इस सूत्रपाठ की टीका तथा इस का अर्थ इसी स्तम्भ ११ के विभाग क-ख अंगों में विस्तृत लिख आये है; तथा इस अर्थ की पुष्टि मे अंग ग-घ-ङ मे उनके समकालीन तथा निकट भविष्य में हो गये तीन आचार्यों के उद्धरण भी दे आये है। अब यहा पर इस पाठ के विवादास्पद शब्दों के वास्तविक अर्थ सप्रमाण लिखेंगे।

इन शब्दो के इस स्थान पर संस्कृत अथवा अर्धमागधी शब्दकोश के प्रचलित अर्थ लेना उचित नही, क्योंकि यहाँ तो वे औषध के रूप में इस्तेमाल (उपयोग) किये गये है। अत: इनके अर्थ वैद्यकीय शब्दकोशों से लेने उचित है। यदि इन शब्दों के अर्थ बनस्पतिपरक मिल जावे और वे वनस्पतियाँ इस रोग के निदान के अनुकूल हों तो अवश्य स्वीकार कर लेने चाहिये। सुज्ञ विद्वानो के लिये यही शोभाप्रद है।

हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि प्राणिअंग-मांस इस रोग का निदान कदापि नही हो सकता। वैद्यक शब्दकोश संस्कृत भाषा में उपलब्ध होने से नीचे लिखे विचारणीय शब्दों के संस्कृत पर्यायवाची शब्दों का ज्ञान लेना भी परमावश्यक है :—

इस सूत्रपाठ में निम्नलिखित शब्द विचारणीय हैं :—

अर्धमागधी शब्द	**संस्कृत पर्याय**
दुवे कवोयसरीरा	द्वे कपोत-शरीरे
उवक्खडिया	उपस्कृते
नो अट्ठो	नैवार्थोऽस्ति
अन्ने	अन्यन्
पारियासिए	पर्युषितं
मज्जारकडए	मार्जार-कृतं
कुक्कुड़	कुक्कुट
मंसए	मॉसकं

१०—**कवोय-कपोत क्या था ?**

"**कवोय**" शब्द का अर्थ आज कल 'कबूतर पक्षी' समझा जाता है, परन्तु कपोत एक प्रकार की खाद्य वनस्पति है। वह पूरी की पूरी उपस्कृत हो सकती है और बहुत समय तक टिक सकती है। इसके सेवन से उष्णता, पित्तज्वर, रक्तविकार, रक्त-पित्त और अतिसार रोग शांत होते हैं। कपोत और कपोत से बने हुए शब्दों के अर्थों में भिन्नता होती है। उसका ब्योरा इस प्रकार है :—

१—कपोत—पारापत एक प्रकार की वनस्पति (सुश्रुत संहिता फलवर्ग)

२—कपोत—पारीस पोपर (वैद्यक शब्दसिन्धु)

३—कपोत—कपोतिका—सफेद कोला, पेठा, कुष्माण्ड (निघन्टु-रत्नाकर)

४—कपोत—कबूतर पक्षी

५—कपोतक—सज्जी खार

६—कपोतांजन—हरा सुरमा (निघण्टुरत्नाकर)

७—पारापतपदी—मालकांगनी (भावप्रकाश)

८—कपोतवर्णा—इलायची

१—कापोती—कृष्ण कापोती, श्वेत कापोती वनस्पतियाँ (सुश्रुत सं०)

कृष्ण कापोती तथा श्वेत कापोती शब्दों से पाठक काली या श्वेत कबूतरी ही समझेंगे। परन्तु वास्तव में ये शब्द किस अर्थ के बोधक हैं, इसका खुलासा नीचे दिया जाता है :—

"श्वेतकापोती समूलपत्रा भक्षयितव्या (सुश्रुत संहिता)।
सक्षीरां रोमशां मृद्वीं रसेनेक्षुरसोपमाम्।
एवंरूपरसां चापि कृष्णां कापोतीमादिशेत्॥
कौशिकीं सरितं तीर्त्वा संजयास्तु पूर्वतः।
क्षितिप्रदेशो वाल्मिकेराचितो योजनत्रयम्॥
विज्ञेया तत्र कापोती श्वेता वाल्मिकमूर्धसु॥

(कापोती प्राप्तिस्थान-सुश्रुत सं०)

उपर्युक्त शब्दों से स्पष्ट है कि कपोत तथा कपोत से बने हुए शब्द अनेक प्रकार की वनस्पतियों तथा अन्य पदार्थों के बोधक हैं। कपोत के रंग जैसा हरा सुरमा होने से इसका नाम कपोतांजन कहलाता है। छोटी इलायची का रंग कपोत के सदृश होने से कपोतवर्णा कहलाती है। इसी प्रकार पेठे का रंग भी कबूतर के समान ऊपर से हरा होने से कपोत कहलाता है। अकेले कपोत शब्द के ये अर्थ लिख चुके हैं :—

(१) कपोत = पारापत (एक प्रकार की वनस्पति) (२) पारीस पीपर, (३) पेठा (कुष्माड), (४) कबूतर पक्षी।

इनके गुण-दोषों का वर्णन वैद्यक ग्रन्थों में इस प्रकार है :—

१—पारापत —

"पारापतं सुमधुरं रुच्यमत्यग्निवातनुत्" (सुश्रुत संहिता)

२—पारीस पीपर :—

"पारिशो दुर्जरः स्निग्ध कृमिशुक्रकफप्रदः॥५॥"
फलेऽम्लो मधुरो मूलो, कषायः स्वादु. मज्जकः॥६॥

(भावप्रकाश-वटादिवर्ग)

३— कुष्माण्ड फल, कोला, सफ़ेद कुम्हेड़ा, पेठा :—

(क) पित्तघ्नं तेषु कुष्मांडं बालं मध्यं कफावहम् ।
शुक्लं लघूष्णं क्षारं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥२१३॥
सर्वदोषहरं हृद्यं पथ्यं चेतो विकारिणाम् ॥२१४॥
(सुश्रुतसंहिता ५६ फलवर्ग)

अर्थ—पेठा कम उष्ण, दीपनकर्त्ता, बस्तिशोधक, सर्व दोषहर है।

(ख) "लघु कुष्माण्डकं रूक्षं मधुरं ग्राहि शीतलम् ।
दोषलं रक्त-पित्तघ्नं मलस्तम्भकरं परम् ॥ ॥"

अर्थ—छोटा पेठा ग्राही, शीतल, रक्त-पित्तनाशक तथा मलरोधक है।

(ग) "कुष्माण्डं शीतलं वृष्यं स्वादु पाकरसं गुरु ।
हृद्यं रूक्षं रसस्यन्दि श्लेष्मलं वातपित्तजित् ॥
कुष्माण्डशाकं गुरु सन्निपातज्वरामशोकानि दाहहारि ॥"
(कयदेव निघण्टु)

अर्थ—पेठा शीतल, पित्त नाशक, ज्वर, आम, दाह आदि को शांत करने वाला है।

(घ) कुष्माण्डं स्यात् पुष्पफलं पीतं पुष्पं बृहत्फलम् ॥५३॥
कुष्माण्डं वृहणं वृष्यं गुरु पित्तास्त्रवातनुत् ।
बालं पित्तापहं शीतं मध्यमं कफकारकम् ॥५४॥
वृद्धं नातिहिमं स्वादु सक्षारं दीपनं लघु ।
बस्तिशुद्धिकरं चेतोरोगहृत्सर्वदोषजित् ॥५५॥
कुष्माण्डी तु भृशं लघ्वी कर्कारुरपि कीर्तिता ।
कर्कारु ग्राहिणी शीता रक्तपित्तहरी गुरु ॥५६॥
पक्वा तिक्ताऽग्निजननी सक्षारा कफवातनुत् ॥५७॥
(भावप्रकाश निघण्टु शाकवर्ग)

अर्थ—पेठा रक्त, पित्त और वायु दोषनाशक है। छोटा पेठा पित्त नाशक, शीतल और कफजनक है। बड़ा कोलाउष्ण, मीठा, दीपक बस्तिशुद्धि कारक, हृदयरोग नाशक, तथा सर्वदोषहारी है। छोटा पेठा

ग्राही, शीतल, रक्त-पित्तदोषनाशक। यदि पका हो तो अग्निवर्धक है।

(४) कबूतर पक्षी का मांस :—

"स्निग्धं उष्णं गुरु रक्तपित्तजनकं वातहरं च।
सर्वमांसं वातविध्वंसि वृष्यं॥

अर्थ— मांस स्निग्ध, गरम, भारी तथा **रक्तपित्त के विकारों को पैदा करने वाला है**, वात को हरने वाला है। सब मांस वातहर और वृष्य है।

यहाँ पर "कवोय" शब्द है चार अर्थों में से तीन अर्थ वनस्पतिपरक हैं तथा एक अर्थ मांसपरक है।

भगवान् महावीर स्वामी को रोग थे :—

(१) रक्तपित्त, (२) पित्तज्वर, (३) दाह, (४) अतिसार।

इन रोग को शान्त करने के लिए इन चारो पदार्थों में से छोटा कुष्माण्ड (पेठा) फल ही औषधरूप लिया जा सकता था; क्योंकि इन मे से यही औषध इन रोगों को शान्त करने में समर्थ थी। परापत तथा पारीस पीपर ये दो वनस्पतिपरक औषधियां इस रोग को शांत नहीं कर सकती थीं। मांस तो इस रोग को पैदा करने वाला, बढ़ाने वाला है। अतः शेठ की भार्या रेवती श्राविका ने भगवान् महावीर स्वामी के रोग के शमनार्थ "दो छोटे पेठे के फल ही" सत्कार किये थे, इस में सन्देह को अवकाश नही।

प्राचीन चूर्णि तथा टीकाकारों ने भी "दुवे कवोयसरीरा[१]" का अर्थ "दो छोटे पेठे फल" ही किया है, यह हम पहले लिख आये हैं।

१." दुवे कवोयसरीरा"—ये तीन शब्द हैं। सरीरा शब्द 'कवोय' से निष्पन्न पुल्लिग वाले द्रव्य का द्योतक है। यदि यह 'सरीराणि' (नपुंसक लिङ्ग) शब्द का प्रयोग होता तो इसका अर्थ पक्षीशरीर पर लागू हो सकता था। क्योंकि "नपुंसक शरीर शब्द ही" प्राणी शरीर या मुर्दे के अर्थ में आता है, किन्तु शास्त्रकार को यह भी अभीष्ट नहीं था। अतः उन्होने यहाँ "शरीराणि" का प्रयोग न करके पुल्लिग में "शरीरा" शब्द

क्योंकि जैन तीर्थंकर तथा निर्ग्रंथ श्रमण को उसके अपने निमित्त तैयार किये गये आहार आदि लेने की मनाही है। इस बात को भगवान् महावीर ने स्वयं मोमिल ब्राह्मण के प्रश्न करने पर स्पष्ट कहा है कि निर्ग्रन्थ-श्रमज के निमित्त तैयार किया गया आहार अनेषणीय है इस लिये अभक्ष्य है, इसका आहार साधु न ले। अतः यह सदोष आहार होने के कारण भगवान् महावीर ने सिंह मुनि को लाने के लिए मना कर दिया। यह औषधि रेवती श्राविका ने भगवान् महावीर के लिये बनायी थी, भगवान् ने अपने केवलज्ञान द्वारा इस बात को जाना और कहा कि "**अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जार-कडए कुक्कड-मंसए तमाहराहि। एएणं अट्ठो।**" अर्थात्-दूसरा जो रेवती ने अपने लिए मज्जार-कडए कुक्कुड-मसए" तैयार करके औषध रख छोड़ी है वह लाना।

११—"मज्जार-कडए कुक्कुड मंसए" क्या था ?

(क) मज्जार–मार्जार

'मज्जार' शब्द का संस्कृत पर्याय 'मार्जार' है। इसका अर्थ आज-कल बिल्ली समझा जाता है।

का प्रयोग किया है और उसका अर्थ फल के साथ ही सम्बन्धित होने का द्योतक है। आगे आने वाला "अन्ने" शब्द भी पुल्लिङ्ग होने से इसी मत की पुष्टि करता है।

दूसरी बात यह है कि मांस के साथ शरीर शब्द का प्रयोग नहीं होता। विपाक सूत्र मे मॉस का वर्णन है, मगर किसी जातिवाचक सज्ञा के साथ शरीर शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। किन्तु "वनस्पति काय" इस प्रकार "वनस्पति शरीर" का प्रयोग सर्वत्र जैनागमों में पाया जाता है।

इससे भी यह स्पष्ट है कि यहां पर सरीरा का सम्बन्ध वनस्पति के साथ ही है। इससे भी कबूतर के माँस का अर्थ सिद्ध नही होता। अत स्पष्ट है कि यहाँ पर 'दो साबुन छोटे पेठा फलों का मुरब्बा अर्थ ही ठीक है।" क्योंकि मुरब्बा साबुत फलों का अथवा उन के अन्दर के गूदे का डाला जाता है, जैसे साबुत आंवलों का मुरब्बा डाला जाता है।

परन्तु यहाँ पर मार्जार शब्द भी वनस्पति विशेष का नाम है, जिस वनस्पति की औषधि में शीतलता, वायुशमन आदि गुण लाने के लिये भावना या पुट दी जाती है; जिसका प्रभाव गर्मी (उष्णता-दाह) इत्यादि रोगों को शांत करने में उपयोगी है। वैद्यक निघण्टुओं तथा जैनागमों में भी इसका ऐसी वनस्पति अर्थ किया गया है। प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद में वृक्षों के अधिकार में 'मज्जार' शब्द की व्याख्या इस प्रकार है :—

१—"वत्थुल-पोरग-मज्जार-पोइवलिय- पालक्का"।

(जैनागम पन्नवणा सुत्तपद १ हरित विभाग)

जैनागम भगवतीसूत्र २१ वे शतक में भी 'मज्जार' शब्द वनस्पति के अर्थ में आया है :—

२—"अब्भसह-वोयान-हरितग-तंदुलेज्जण-तण-वत्थुल-पोरग-मज्जार-पाई-चिल्लिया।" (भगवतीसूत्र)

३—"मार्जार :—विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषः।"

(भगवतीसूत्र शतक १५ टीका)

४—कृशरे-भीरु मार्जार किंशुका इंगुदी न षण्।

अगस्त्ये -मुनि मार्जारावगस्तिवंगसेनका:" ॥१५६॥

(वैजयन्ती भूमिकांड वनाध्याय)

अर्थ—कृशर (हिंगोटी) के भीरू, मार्जार, किंशुक, इंगुदी ये नाम हैं। इंगुदी शब्द पुल्लिग और स्त्रीलिंग में है। अगस्त्य के मुनि, मार्जार अगस्ति वंगसेन ये नाम है।

५—"अगस्ति की शिम्बा सारक, बुद्धिदा, भोजन की रुचि उत्पन्न करने वाली, त्रिदोष नाशक इत्यादि अनेक गुणों वाली है"। (शालिग्राम)

६—मार्जार—रक्तचित्रक नामक पौधा (राजनिघण्टु)।

७—मार्जार—विडाली, भूमि कुषमाण्ड (वैद्यक शब्दसिन्धु पृ० ८८९)।

८—मार्जार—बिल्ली (वनस्पति विशेष), विडालिका, वृक्षपर्णी।

९—मार्जार—खटाश (क०स० श्री हेमचन्द्राचार्य)

१०—मार्जार—एक प्रकार की वायु (भगवती टीका)

११—मार्जार[१]—बराली, विरालिका, वरालक, वराल, लवङ्ग (वैद्यक शब्दसिन्धु) (अष्टांगसारसंग्रह) (वैद्यक निघण्टु २ भाग) ।

१२—वराल, वरालक (हिन्दी विश्वकोष)

मार्जार—अर्थात् विरालिका (लवंग) के कैसे अद्‌भुत गुण हैं वे नीचे के श्लोक में दिये जाते हैं :—

"लवंगं कटुकं तिक्तं लघु नेत्रहितं हिमं ।
दीपनं पाचनं रुच्यं कफपित्ताम्लनाशकृत् ॥
तृष्णा छर्दिस्तथाध्मानं शूलमाशु विनाशयेत् ।
कासश्वासश्च हिकाश्च क्षयं क्षपयति ध्रुवम् ॥१॥

(वैद्यक शब्दसिन्धु पृ० ९०९)

अनेकार्थतिलक महीपकृतः—

१. मार्जार शब्द के और भी अनेक अर्थ (पर्यायवाची शब्द) अनेक कोशों और निघण्टुओं में उपलब्ध हैं, उनमें से यहां कुछ का उल्लेख कर देने से पाठकों की जानकारी में वृद्धि होगी—

२. मार्जार—नक्षत्रे च त्रिशङ्कुस्तु मार्जारे शलभे नृपे ।
तूलिका लेख्यलेखिन्यां तूलतल्पशलाकयोः ॥१३२॥

माकन्दो मन्मथे चूते मुकुन्दः पारदे हरौ ।
विधौ तालेऽथ मेनादौ मार्जारमेषकेकिनोः ॥२०७॥

नेत्रगोलेऽपि मार्जारे विहायः ख-विहङ्गयोः ।
नुक्कसः श्वपचे नीचे विबुधः पण्डिते सुरे ॥२४९॥
(खंड ३)

कृष्णसारः स्नुहीवृक्षे शिंशिपामृगभेदयोः ।
कुष्माण्डकस्तु मार्जारे कुष्माण्डगणभेदयोः ॥४८॥

महोदयो नृपे मोक्षे मधुपर्णे पुरे रवौ ।
मार्जाली यस्तु मार्जारे शूद्रे विग्रहशोधने ॥१५४॥
(खंड ४)

मार्जार—बिडाल, बिल्ली (हिन्दी विश्वकोष)

अर्थात्--लवंग कटु, तीक्ष्ण, लघु, चक्षुष्य, ठण्डा, दीपन, पाचक रुचिकर। कफ़, पित्त, मल नाश करने वाला। तृष्णा (प्यास), वमन, आध्मानवायु, शूल के दर्द को शीघ्र नाश करने वाला। खांसी, श्वास, क्षय आदि रोगों को शीघ्र दूर करने वाला है।

वैद्यक ग्रंथ आर्यभिषक्-(शंकर दाजी पदे कृत) पृ० ३५९ में लिखा है कि :—

लवंग लघु, कडवा, चक्षुष्य, रुचिकर, तीक्ष्ण, पाककाले मधुर, उष्ण, पाचक, अग्निदीपक, स्निग्ध, हृद्य, वृष्य तथा विशद है; तथा वायु, पित्त, कफ, आम, क्षय, खासी, शूल, आनाहवायु, श्वास, उचकी, वाँति, विष, क्षतक्षय, क्षय, तृष्णा, पीनस, रक्तदोष, आध्मान वायु को नाश करता है।

आर्यभिषक् फुट नोट पृ० ३५९–में लिखा है:—

लवंग पेट की पीड़ा का नाशक, प्यास बन्द करने वाला, उल्टी तथा वायु आदि को दूर करने के लिये औषध रूप में दी जाती है।

इन सब उद्धरणों से तथा टिप्पनी मे दिये गये उद्धरणों से स्पष्ट है कि "मार्जार" शब्द के बनस्पतिपरक अनेक अर्थ होते हैं। वायु तथा

मार्जार---रक्तचित्रक वृक्ष, लालचीता पेड़, खटास,
(हिन्दी विश्वकोश)

बिडाल--हरिताल, यष्टी गैरिक, सिन्धूत्थदार्वीतार्क्ष्यैः समांशकैः ॥
(वाचस्पति बृहत्संस्कृताभिधान)

मार्जार--तार्क्ष्य-भूपाल-मार्जार-शलभाः स्युस्त्रिशङ्कवः ॥१२०७॥
मार्जारेऽपि पिशाचः स्याद् मारीचो याचकद्विजे ॥१३३९॥
(नानार्थरत्नमालायां त्र्यक्षरकांडः)

वरालक---Varalaka--cloves carissa carissa carandos aromatic Spice—लवंग, सुगन्धित मसाला।

(Sanskrit English Dictionary by Sir Monier Monier-Williams).

खटाश अर्थ भी होते हैं। इनके अतिरिक्त बिल्ली तथा अन्य अनेक निर्जीव पदार्थों के लिये भी मार्जार शब्द आता है।

(ख) मज्जारकडए[1] का क्या अर्थ है ?

मज्जारकडए–मार्जारकृत (संस्कृत)। (१) मार्जार नाम की बनस्पति से बनाया हुआ। (२) मार्जार से संस्कारित किया हुआ। (३) मार्जार की भावना दिया हुआ। (४) मार्जार नामक वायु को शमन करने के लिये बनाया हुआ। (५) मार्जार बनस्पति में पकाया गया अथवा बनाया गया होता है।

(ग) कुक्कुड-कुक्कुट

कुक्कुट भी एक प्रकार की बनस्पति है, जो कि बहुत दिनों तक टिक सकती है। इसके सेवन से गर्मी, रक्तपित्त, पित्तज्वर, अतिसार आदि रोग शांत होते हैं। उदाहरणार्थ कुक्कुट शब्द के कुछ अर्थ नीचे दिये जाते है :—

१—"सुनिषण्णे सूचिपत्रः स्वस्तिक. शिरिवारकः।
श्रीवारकः शितिवरो वितुन्नः कुक्कुटः शिखी ॥ (निघंटुशेष)

अर्थ :–(१) सूचिपत्र, (२) स्वस्तिक, (३) शिरिवारक, (४) श्री वारक, (५) शितिवर, (६) वितुन्न, (७) कुक्कुट, (८) शिखि ये सुनिषण्ण के नाम हैं।

१—औषधि-विज्ञान में संस्कारित वस्तुओं के लिये "दधिकृत", "राजीकृत", "मार्जारकृत" इत्यादि प्रयोग होता है। इसका अर्थ क्रमशः "दही से संस्कारित", "राई से संस्कारित", वरालिका (लवंग) औषधि से संस्कारित होता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ 'कडए' का अर्थ 'संस्कारित' और 'मज्जारकडए' का अर्थ मार्जार वनस्पति से संस्कार (भावना-पुट) वाला ठीक बैठता है। "कडए" शब्द मारने अथवा हनन करने के अर्थ में प्रयोग किया हो, ऐसा सिद्ध नहीं होता।

"सुनिषण्णो हिमो ग्राही मोह-दोषत्रयापहः ।
अविदाही लघु स्वादुः कषायो रूक्षदीपनः ॥
वृष्यो रुच्यो ज्वर-श्वास-मोह-कुष्ठ-भ्रमप्रणुत् ॥ (भावप्रकाश)

अर्थ—सुनिषण्णक ठण्डा, दस्त रोकने वाला, मोह तथा त्रिदोष का नाशक, दाह को शांत करने वाला, हल्का स्वादिष्ट, कषायरसवाला, रूक्ष, अग्नि को बढ़ाने वाला, बलकारक, रुचिकर, और ज्वर, श्वास, कुष्ठ तथा भ्रम का नाशक है।

२—कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी कुक्कुट शब्द का प्रयोग बनस्पति के अर्थ में हुआ है। देखिये—

"कुक्कुट—कोशातकी-शतावरीमूलयुक्तमाहारयमाणो मासेन गौरो भवति।" (कौटिलीय अर्थशास्त्र पृ० ४१५)

अर्थ—कुक्कुट (विषण्णक—चौपतिया भाजी), कोशातकी (तुरई), शतावरी इन के मूलों के साथ महीना भर भोजन करने वाला मनुष्य गौर वर्ण हो जाता है।

३—कुक्कुटः—शाल्मली वृक्षे (सेमल का वृक्ष) (वैद्यक शब्दसिंधु)।

४—कुक्कुटः—बीजपूरकः (बिजोरा) (भगवतीसूत्र टीका)।

५—कक्कुट—(१) कोषण्डे, (२) कुरंड, (३) सांवरी (निघण्टु रत्नाकर)।

६—कुक्कुट—घास का उल्का, आग की चिंगारी, शूद्र और निषादन की वर्णसस्कार प्रजा (जै० स० प्र० क्र० ४३)

७—कुक्कुटी-कुक्कुटी, पूरणी, रक्तकुसुमा, घुणवल्लभी। पूरणी बनस्पति (हेमी निघण्टुसग्रह)

८—कुक्कुटी—मधुकुक्कुटी=(स्त्री) मातुलुंगवृक्षे जम्बीरभेदे अर्थात्—बीजोरे वृक्ष मे से जम्बीर फल (वैद्यक शब्दसिंधु टीका) (राजवल्लभ)

(घ) मंसए-मांसक (मांस से बना हुआ)

हम पहले लिख चुके हैं कि "मांस" शब्द के वनस्पति फलवर्ग का गूदा आदि अनेक अर्थ होते हैं। जैसे—

(१) मांस (नपुंसक लिंग) मांस, गर्भ, फलगर्भ, गूदा, फांक।

(२) मांसक (पुल्लिंग) पाक, मुरब्बा, फलगर्भ से तैयार किया हुआ।

(३) मांस—गरिष्ठ पक्वान्न (अनेकार्थसंग्रह)

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि :—

(१) जो गरिष्ठ पक्वान्न खाद्य पदार्थ होते हैं, उनमें प्रथम नंबर का खाद्य मांस कहलाता था, जो घी, शक्कर, पिष्ट (पीठी) आदि से बनाया जाता था। उस में केशर तथा लाल चन्दन का रंग दिया जाता था।

(२) पके मीठे फलों को छीलकर उनके बीज या गुठलियां निकाल कर तैयार किया हुआ फलों या मेवों का गूदा भी मांस कहलाता था। "मांस—फलगर्भ" अर्थात् फल का गूदा (वैद्यक शब्दसिन्धु)।

(३) प्राणीअंग के तृतीय धातु को भी मांस कहते थे।

(४) मांस शब्द (फलों, मेवों, फलियों के) गर्भ, गूदे के लिये प्रयुक्त होता है।

(ङ) मार्जार और कुक्कुट वनस्पतियां कैसा अद्भुत औषधीय गुण रखती हैं यह निम्नलिखित वर्णन से ज्ञात होगा :—

(१) मार्जार अर्थात् अगस्त्य तथा अगस्ति की शिम्बा के कैसे अद्भुत गुण होते हैं वह नीचे के श्लोक से विदित होगा :—

"अगस्त्या वंगसेनो, मधुशिग्रु र्मुनिद्रुमः।
अगस्त्यः पित्तकफजिच्चातुर्थिकहरो हिमः।
तत्पत्र: पीनसश्लेष्मपित्तनक्तान्ध्यनाशनम् ॥"

(मदनपाल निघण्टु)

अर्थ :—अगस्त्य वंगसेन, मधुशिग्रु, मुनिद्रुम इन नामों से पहचाना जाता है। अगस्त्य पित्त और कफ को जीतने वाला है। चतुर्थिक ज्वर को दूर करता है और शीतवीर्य है। इस का स्वरस प्रतिश्याय श्लेष्म रात्र्यान्ध्य नाशक है।

"मुनिशिम्बी सरा प्रोक्ता, बुद्धिदा रुचिदा लघुः।
पाककाले तु मधुरा, तिक्ता चैव स्मृतिप्रदा ॥
त्रिदोषशूलकफहृत्, पाण्डुरोगविषापनुत्।
श्लेष्म-गुल्महरा प्रोक्ता, सा पक्वा रूक्षपित्तला ॥"

(शालिग्राम निघण्टु)

अर्थ—अगस्ति की शिम्बा सारक कही है, बुद्धि देने वाली, भोजन की रुचि उत्पन्न करने वाली, हल्की, पाक काल में मधुर, तीखी, स्मरणशक्ति बढ़ाने वाली, त्रिदोष को नाश करने वाली, शूलरोग, कफरोग को हटाने वाली, विष को नष्ट करने वाली और श्लेष्म गुल्म को हटाने वाली होती है, परन्तु पकी हुई शिम्बा रूक्ष और पित्त करने वाली होती है।

(२) कुक्कुट अर्थात् सुनिषण्णक (चौपत्तिया भाजी), मधुकुक्कुटी अर्थात् जम्बीर फल आदि है; इनके गुणदोषों का विवरण इस प्रकार है :—

(कुक्कुट) "सुनिषण्णो हिमो ग्राही मोहदोषत्रयापहः।
अविदाही लघुः स्वादुः कषायो रूक्षदीपनः ॥
वृष्यो रुच्यो ज्वर-श्वास-मेह-कुष्ठ-भ्रम प्रणुत् (भावप्रकाश)

अर्थ—सुनिषण्णक (चौपत्तिया भाजी) ठण्डी, दस्त रोकने वाली, मोह तथा त्रिदोष को नाश करने वाली, दाह को शांत करने वाली, हल्की, स्वादिष्ट, कषाय रस वाली, रूक्ष, अग्नि को बढ़ाने वाली, बल तथा रुचि-कारक, ज्वर, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ और भ्रम को नाश करने वाली है।

इसी प्रकार अन्य निघण्टुकार भी सुनिषण्णक के गुणों का ऐसा ही वर्णन करते हैं।

(३) मधुकुक्कुटी[1] (मातुलुंग वृक्षे जम्बीरभेदे) फल के गुणदोष- यहाँ पर मधुकुक्कुटी शब्द का अर्थ जम्बीर फल लिया है। जम्बीर फल बीजोरे का एक भेद है। बीजोरा संगतरे (संत्रे) की जाति के अनेक प्रकार के फल होते हैं। बीजोरे की नामावली अमरकोश में इस प्रकार दी है:—

मातुलो मदनश्चास्यफले मातुलपुत्रकः।
फलपूरो बीजपूरो रुचको मातुलुङ्गके॥
समीरणो मरुबकः प्रस्थपुष्पः फणिज्जकः।
जम्बीरोऽप्यथ पर्णासे कठिञ्जरकुठरकौ॥ (कां २ वनौ०)

---

१. विवादास्पद मूल पाठ में 'कुक्कुट' शब्द आया है। बीजोरे के लिये **मधुकुक्कुटी** अथवा **मधुकुक्कुटिका** शब्द का प्रयोग हुआ है। सो यहाँ पर **कुक्कुट** शब्द से बीजोरा शब्द क्यों स्वीकार किया है, इसे यहाँ पर स्पष्ट करने की आवश्यकता है:—

'कुक्कुट' शब्द का स्त्री लिंग 'कुक्कुटी' होता है तथा इस कुक्कुटी शब्द पर से 'मकुधुक्कुटो' शब्द बनता है। इस 'मधुकुक्कुटी' शब्द में 'मधु' का अर्थ मीठा होने से विशेषण होना है। यह विशेषणवाची शब्द छोड़ कर 'कुक्कुटी' शब्द रह जाता है। कुक्कुट, कुक्कुटी और कुक्कुटिका पर्याय-वाची शब्द हैं। ये तीनों पर्यायवाची शब्द होने से समानार्थक शब्द हैं। (१) हम वैद्यक ग्रंथों में देखते हैं कि विशेषण सहित तथा विशेषण बिना शब्द पर्यायवाची शब्द होने से समानार्थक हैं। जैसे:—

(१—नागकेशर) चाम्पेयः **केशरो नागकेशरः** कनकाह्वयः।
महौषधं राजपुष्पः फलकः स्वरघातनः॥
(शालिग्राम निघण्टु कर्पूरादि वर्ग)

(२—जटामांसी) **जटामांसी** जटी **पेषी** लोमशा जटिलामिसिः।
मांसी तपस्विनी हिंस्रा मिषिका चक्रवर्तिनी॥

(३—पिप्पलीमूल) **मूलं तु पिप्पलीमूलं ग्रान्थिकं** चटकाशिरः।
कणामूल कोलमूलं चटिका सर्वग्रान्थिकम्॥

(४–समुद्रफेन) **समुद्रफेनः फेनश्च** डिण्डिरोऽब्धि कफस्तथा।
(शालिग्राम निघण्टु हरीतक्यादि वर्ग)

(५–मुल्हठी) **मधुयष्टिर्य**ष्टिमधुर्यष्ट्याह्वा क्लीतका स्मृता।
मधुकं यष्टिमधुकं यष्टिका मधुयष्टिका ।।

(६–काकडाशिंगी) **कर्कटशृंगिका शृंगी** कुलिङ्गी कासनाशिनी।
महाघोषा च चक्राङ्गी **कर्कटी** वनमूर्द्धजा ।।

(७–भांग) शक्राशन तु **विजया त्रैलोक्यविजया जया**।
(शालिग्राम निघण्टु अष्टवर्ग)

(८–अरणी) अग्निमन्थो हविर्मन्थः **कर्णिका गिरिकर्णिका**।
जया जयन्ती तर्कारी नादेयी वैजयन्तिका ।।

(९–शतावरी) शतमूली महाशीता भीरुपत्री **शतावरी**।
महाशतावरी त्वन्या शतवीर्य्या महोदरी ।।
(शालिग्राम निघण्टु गुडूच्यादि वर्ग)

(१०–द्राक्षा) द्राक्षा **मधुरसा** स्वाद्वी कृष्णा चारुफला **रसा**।
मृद्वीका गोस्तनी चैव यक्ष्मघ्नी तापसप्रिया ।।

(११–पीलु) **पीलु** शीतसहा स्रंसी धानी गुडफलस्तथा।
विरेचनफलः शाखी श्यामः करभवल्लभः ।।
अन्यश्चैव **बृहत्पीलु-र्महापीलु**र्महाफलः।
राजपीलु-र्महावृक्षः मधुपीलुः षडाह्वयः ।।

(१२–ताड़) **तालस्तु** लेख्यपत्रः स्यात् तृणराजो महोन्नतः।
श्रीतालो मधुतालश्च लक्ष्मीतालो मृदुच्छदः ।।
(शालिग्राम निघण्टु फलवर्ग)

उपर्युक्त १२ उद्धरणों से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि विशेषण रहित, तथा विशेषण सहित नाम चिकित्साशास्त्र में पर्यायवाची होने से समानार्थक है। अतः मधुकुक्कुटी, मधुकुक्कुटिका तथा कुक्कुटी भी पर्यायवाची शब्द होने से समानार्थक है इसमें मन्देह को किंचिन्मात्र भी स्थान नहीं है। यथा श्लोक नं० ५ में मुल्हठी के लिये 'मधुयष्टि शब्द आया है और यष्टि शब्द भी आया है। यहाँ 'मधु' विशेषण को छोड़ कर अकेले 'यष्टि' शब्द का भी मुल्हठी अर्थ ही लिया है।

(२) तथा प्राणिवाचक पर्यायशब्द जब वनस्पति के लिये प्रयुक्त होते हैं तब प्रत्येक पर्यायवाची शब्द का वनस्पति में समानार्थ ही किया जाता है। जैसे कि (क) 'वानरी' का अर्थ बन्दरी है और 'कपि' का अर्थ बन्दर है। पहला शब्द स्त्रीलिंग है, दूसरा पुल्लिंग है। परन्तु दोनों का अर्थ वनस्पतिपरक "कौंच के बीज" होता है। (ख) 'कोकिलाक्ष' का अर्थ–'कोयल पक्षी की आँख' होता है तथा 'कोकिला' का अर्थ 'कोयल पक्षी' होता है। परन्तु ये दोनों पर्यायवाची शब्द वनस्पतिपरक अर्थ में बनकर एक अर्थ के सूचक हो गये हैं। इनका एक ही अर्थ 'तालमखाने' होता है।

अब हम यहां पर कुछ और भी उद्धरण दे कर स्पष्ट कर देना चाहते हैं:—

(१—कुक्कुट) (पुल्लिग)—**कुक्कुट**. शाल्मली वृक्षे (सेमल का वृक्ष)
(वैद्यक शब्दसिन्धु)

(२—कुक्कुटी) स्त्रीलिंग—

शाल्मली तूलिनी मोचा पिच्छिला विरजा विता।
कुक्कुटी पूरणी रक्तकुसुमा घुणवल्लभा ॥ ६७ ॥
(निघण्टुशेष)

उपर्युक्त उद्धरणों से हम देखते हैं कि कुक्कुट तथा कुक्कुटी दोनों का लिंगभेद होते हुए भी वे वनस्पतिपरक अर्थ में पर्यायवाची है। दोनों का अर्थ शाल्मली वृक्ष (सेमल का वृक्ष) स्वीकार किया गया है।

(३—करौंदा) **करमर्दो** वने क्षुद्रा कराम्लः करमर्द्दकः।
तस्माल्लघुफला या तु सा ज्ञया **करमर्दिका** ॥
(शालिग्राम निघण्टु फलवर्ग)

(४—झिंगी) जिङ्गिनी **झिंगिनी झिंगी** सुनिर्यासा प्रमोदिनी।
(शालिग्राम निघण्ट वटादिवर्ग)

नं० ३-४ उद्धरणों में भी 'करमर्द' पुल्लिङ्ग है तथा 'करमर्दिका' स्त्रीलिंग है। एवं "झिंगिनी" स्त्रीलिंग है और 'झिंगी' पुल्लिग है; दोनों पर्यायवाची बनकर समानार्थक है।

अतः कुक्कुटी, मधुकुक्कुटी, मधुकुक्कुटिका और कुक्कुट ये सब शब्द पर्यायवाची होने से समानार्थक हैं। इस लिये यहाँ पर कुक्कुट शब्द का अर्थ बिजौरा है। यह दलील निःसन्देह युक्तिपूर्ण है।

बीजोर फल की अनेक जातियों मे से कुछ भेदों में से गुण दोषों का वर्णन करते हैं :—

(१) बीजोरा (किब) फल—

श्वासकासाऽरुचिहरं तृष्णाघ्नं कण्ठशोधनम् ॥ १४८ ॥
लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुङ्गमुदाहृतम् ।
त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातकृमिकफापहा ॥ १४९ ॥
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसमारुतपित्तजित् ॥ १५० ॥

(सुश्रुत संहिता)

अर्थ—किब जाति का बीजोरा फल—तृष्णाशामक, कण्ठशोधक श्वास, खाँसी, अरुचि को मिटाने वाला, लघु, दीपक और पाचक है।

त्वक् (छिलका) तिक्त, दुर्जर, वात, कृमि तथा कफ को शमन करने वाली है।

मांस (गूदा)—वात-पित्त को नाश करने वाला है।

(२) बीजोरा—मधुकर्कटी (चिकोतरा) फल—

बीजपुरो मातुलुंगो रुचकः फलपूरकः ।
बीजपूरफलं स्वादु, रसेऽम्लं दीपनं लघु ॥ १३१ ॥
रक्तपित्तहरं कण्ठजिह्वाहृदयशोधनम् ।
श्वासकासाऽरुचिहरं हृद्यं तृष्णाहरं स्मृतम् ॥ १३२ ॥
बीजपूरोऽपरः प्रोक्तो मधुरो मधुकर्कटी ॥
मधुकर्कटिका स्वाद्वी रोचनी शीतला गुरुः ॥ १३३ ॥

(भावप्रकाश)

अर्थ—चिकोतरा जाति का बीजोरा फल—रक्तपित्तनाशक है, कंठ-जिह्वा-हृदय शोधक है, श्वास-कास तथा अरुचि का दमन करता है तथा तृष्णा हर है। इस बीजोरे को दूसरे लोग मधुर मधुकर्कटी अथवा मधु-कर्कटिका भी कहते हैं।

(३) बीजोरा–मधुकुक्कुटी (जम्बीर) फल—

मधुकुक्कुटिका, मधुकुक्कुटी (स्त्रीलिंग) मातुलुङ्ग वृक्षे जम्बीर-भेदे। (वैद्यक शब्दसिन्धु)

मधुकुक्कुटिका शीता श्लेष्मला अप्रसादिनी।
रुच्या स्वादुर्गुरुः स्निग्धा वात-पित्तविनाशिनी॥

तत् फलं—तस्य फलं बालं वात-पित्त-कफ-रक्तकरम्।

मध्यं फलं—तादृशमेव।

पक्वं फलं—वर्णकरं हृद्यं पुष्टिकरं बलकरं शूलहरं।
अजीर्णनाशनं विबन्धं वातपित्तश्वासाग्निमांद्यहरं
कासा ऽरोचकशोफघ्नञ्च॥ (वैद्यक शब्दसिन्धु)
पक्वं तत् मधुरं कफदमनं रक्त-पित्तदोषघ्नं वर्ण्यम्।
वीर्यवर्धनं रुचिकृत् पुष्टिकृत् तर्पणञ्च॥
(राजनिघण्टु तथा वैद्यक शब्दसिन्धु)

अर्थ—मधुकुक्कुटी (जम्बीर) शीतल, श्लेष्म करने वाला, रोचक, स्वादिष्ट, गुरु, स्निग्ध, वात्-पित्त को नाश करने वाला है।

जम्बीर फल—कच्चा फल वात-पित्त-कफ तथा रक्त के दोषों को उत्पन्न करने वाला है। अधपका फल भी कच्चे फल के समान दोषों को करने वाला है।

तथा इसका पका फल सुन्दरता बढ़ाने वाला, पुष्टिकर, बलकर शूल की पीड़ा का शामक, अजीर्णनाशक, दस्तों को रोकने वाला, बात-पित्त, श्वास, अग्निमांद्य को दूर करने वाला, खांसी, अरुचि, सूजन को नाश करने वाला है।

तथा पका हुआ मीठा फल कफ का दमन करने वाला, रक्त-पित्त के दोषों को नाश करने वाला, वर्ण को निखारने वाला, वीर्य को बढ़ाने वाला, रुचिकर, पुष्टिकर तर्पण करने वाला है।

तन्मांसं-गर्भं (गूदा)

बृंहणं शीतलं गुरं रक्तपित्तजितञ्च। (**च० द० पि० ज्व० चि०**)

अर्थ—जम्बीर फल का गूदा—शीतल, गुरु, रक्तपित्त को नाश करने वाला है।

आर्यभिषक्—वनौषधि गुणादर्श (पृ० ४१२) गुजराती ग्रंथ में मधु-कुक्कुटी (जम्बीर) फल के गूदे के गुणों का इस प्रकार वर्णन है—

"मधुर, ग्राहक, कड़वा, शीतल, वातकर, तुरा, पुष्टिकारक तथा बल-कारक है। कफ, रक्तपित्त विकार तथा प्रदर को नाश करता है।"

सारांश यह है कि जम्बीर जाति के बीजोरे का कच्चा तथा अधपका फल **रक्तपित्त रोग** में अत्यन्त हानिकारक है एवं इस का पका फल रक्तपित्त, दाहज्वर, पित्तज्वर आदि रोगों में लाभदायक है।

पके मीठे फल का गूदा तो इस रोग मे अत्यन्त लाभदायक है।

हमने उपर्युक्त तीन प्रकार के बीजोरा फलों के गुण-दोषों का वर्णन किया है।

(१) किब जाति का बीजोरा वात-पित्तशामक होने से इस रोग में लाभदायक नही है। (२) चिकोतरा जाति का बीजोरा इस रोग में लाभदायक है तो सही परन्तु इसका दूसरा नाम मधुकर्कटी होने से मधुकुक्कुटी का पर्यायवाची नही है, क्योंकि यदि दोनों का मधु विशेषण हटा दिया जावे तो कर्कटी एवं कुक्कुटी शब्द रह जाते हैं। यदि इन दोनों शब्दों का मांसपरक अर्थ किया जावे तो प्रथम का अर्थ केकड़ा, जो कि जल में रहने वाला एक प्राणी है, तथा कुक्कुटी का अर्थ मुर्गी होता है। इसके पुल्लिग 'कुक्कुट' का अर्थ मुर्गा होता है। दोनों का भिन्न अर्थ होने से यही मानना ठीक है कि—"भगवतीसूत्र के विवादास्पद पाठ" में जो "कुक्कुड (कुक्कुटी)" शब्द आया है उससे मधुकुक्कुटी अर्थात् जम्बीर फल अर्थ लेना ही उचित है। (३) मधुकुक्कुटी—जम्बीर जाति बीजोरे का मीठा पका फल तथा इस का गूदा रक्तपित्त मे सब जाति के बीजोरों से अधिक तथा अत्यन्त लाभदायक है।

इतने विवेचन के बाद "कुक्कुट" शब्द के नीचे लिखे अर्थों वाले पदार्थों पर पुनः विचार करते हैं :—

(१) कुक्कुट—सुनिषण्णक शाक (भावप्रकाश)

(२) कुक्कुट—मधुकुक्कुटी—जम्बीर फल (वैद्यक शब्दसिन्धु जैनागम भगवतीसूत्र)

(३) कुक्कुट—शाल्मली—सेमल वृक्ष (वैद्यक शब्दसिन्धु, भाव-प्रकाश निघण्टु)

(४) कुक्कुट—मुर्गा, बत्तक मुर्गा

(५) कुक्कुट मांस—मुर्गे का मांस

यहां पर हमने मार्जार तथा कुक्कुट शब्दों के वनस्पतिपरक तथा मांसपरक पदार्थों के गुण-दोषों का वर्णन कर दिया है। अब हमने यहाँ पर यह निर्णय करना है कि विवादास्पद सूत्रपाठ में वर्णित भगवान् महावीर ने अपने रोग के शमनार्थ इनमें से कौनसी औषध ग्रहण की थी। इनमें से प्राणिअंग मांस लाभदायक हो सकता था अथवा वनस्पति अंग मांस (गूदा)। यदि वनस्पतिपरक वस्तु लाभदायक थी तो कौनसी वस्तु औषध रूप में ग्रहण की गई थी।

कक्कुट[1] = १—सुनिषण्णक नाम चारपत्तियों वाला शाक।

१—कुक्कुट तथा इसके पर्यायवाची शब्दों के अर्थ—

(क) कुक्कुट=सुनिषण्णक, विषण्णक, चौपत्तियाभाजी। (निघण्टुशेष, कौटिलीय अर्थशास्त्र) शाल्मली वृक्ष (वैद्यक शब्दसिन्धु) बीजोरा (भगवतीसूत्र टीका) (कोषंड, कुरंड, सांवरी (निघण्टु रत्नाकर) घास का उल्का, आग की चिंगारी, शूद्र और निषाद की वर्णसंकर प्रजा (वाच०)।

(ख) कुक्कुटी—कुक्कुटी, पूरणी, रक्तकुसुमा, घणवल्ली (हेम निघण्टुसंग्रह)

(ग) मधुकुक्कुटी—मातुलुंगे, जम्बीर (वैद्यक शब्दसिन्धु)

२—शाल्मली=सेमल वृक्ष
३—मातुलुंग=बीजोरा (जम्बीर)
४—मुर्गा

(१) यहां "कक्कुट" का पहला अर्थ—'सुनिषण्णक' नामक शाक भाजी है। यह शाक इस रोग में लाभदायक है अवश्य। यदि यहाँ पर इस शाक की औषधि लेना मान लें तो यहां पर "मज्जार" का अर्थ 'खटाश' लेना चाहिये। क्योंकि 'खटाश' डाल कर भाजी का शाक बनाया जाता है। भाजी का शाक 'दही' डालकर खट्टा करने का रिवाज सब जानते हैं। अर्थात् खटाश की जगह 'दही' लेने से दस्तों की तथा पेचिश की बीमारी में लाभदायक है अवश्य, परन्तु भगवान महावीर के रोग के लिये हानिकारक थी। क्योंकि भगवान् को पेचिस तथा दस्तों के साथ दाह और पित्तज्वर भी था। ज्वर में दही हानिकारक है। तथा दूसरी बात यह है कि भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने सिंह मुनि से इस औषधि के लिये कहा था कि "पहले से तैयार करके जो औषध रखी है उसे लाना"। सो दही की खटाश डाल कर बनाया हुआ शाक अधिक दिनों तक रख देने से बिगड़ जाता है और खाने लायक नहीं रहता। एवं इस कुक्कुट शब्द के साथ 'मसए' शब्द है। मंसए शब्द का अर्थ है गूदा परन्तु शाक का गूदा नहीं होता। इसलिये यह शब्द शाक भाजी के अर्थ में घटित नहीं हो सकता। इससे फलित होता है कि यह औषध भगवान् महावीर ने नहीं ली।

(२) दूसरा अर्थ है—'शाल्मली' अर्थात् सेमल का वृक्ष होता है। इस वृक्ष का फल होता है तथा इसमें गूदा भी होता है। परन्तु इसका गूदा गर्म होने से इस रोग में लाभदायक नही है। अतः यह अर्थ भी यहां घटित नहीं हो सकता।

(३) तीसरा अर्थ—"बीजोरा फल" है। बीजोरा कई प्रकार का होता है। जैसे गलगल, चिकोतरा, संगतरा, मीठा, जम्बीर, किंब फल इत्यादि। यहां पर बीजोरे से "जम्बीर फल" अभीष्ट है, क्योंकि अन्य बीजोरों की अपेक्षा इस रोग के लिये जम्बीर- बीजोरे का पका हुआ

मीठा फल ही अत्यन्त लाभदायक है। तथा कुक्कुट (मधुकुक्कुटी) शब्द का अर्थ जम्बीर नामक फल ही होता है। इसके फल में गूदा भी होता है। यह गूदा इन सब रोगों पर अत्यन्त लाभदायक है। अर्थात् "कुक्कुड मंसए"[१] का अर्थ "बीजोरे (जम्बीर) फल के गूदे से तैयार किया गया पाक-मुरब्बा" होता है। तथा प्राचीन टीकाकारों ने एवं चूर्णिकारों ने और कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य आदि गीतार्थ आचार्यों ने भी इसका यही अर्थ स्वीकार किया है। यह मुरब्बा कई दिनों तक सुरक्षित रहता है, बिगड़ता नहीं।

(४) चौथा अर्थ यदि मुर्गे का मांस किया जावे तो यह मांस इस रोग में बहुत हानिकारक होने से इस रोग में कदापि लाभकारी नहीं हो सकता था। देखिये :—

मुर्गे के मांस के गुण-दोष—

(क) मुर्गे का मांस स्निग्ध, गुरु, उष्ण, वृष्य, कफकृत, शक्तिप्रद, आँखों के लिये लाभकारी तथा वायु को नष्ट करता है।

(वैद्यक निघण्टु उर्दू; वैद्य कृष्णदयालकृत)

(ख) "स्निग्धं उष्णं गुरु रक्तपित्तजनकं वातहरं च मांसं।
सर्वमांसं वातविध्वंसि वृष्यं॥"

अर्थात्—मुर्गे का मास चिकना, भारी, गरम, कफ को बढ़ाने वाला, ताकत बढ़ाने वाला, रक्तपित्त को पैदा करने वाला और वायु को दूर करता है। सब मांस भारी और वात को नाश करते है।

मतलब यह है कि गर्म, भारी, चिकने पदार्थ भक्षण करने से रक्तपित्त विकार पैदा होता है, इस रोग में वृद्धि होती है और रोगी को बहुत

१—"मांस" शब्द नपुंसक लिंग है। परन्तु 'मांसक' शब्द पुल्लिंग है और 'बीजोरा' शब्द भी पुल्लिंग है। एवं 'मांसक' शब्द का अर्थ फल का गदा अथवा पाक-मुरब्बा ही है। ऐसा हम ऊपर लिख भी आये हैं। इसलिये यहाँ पर "कुक्कुड मंसए" का अर्थ बीजोरा पाक ही होता है। इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है।

हानिकारक है। फिर वह पदार्थ चाहे वनस्पतिपरक हो चाहे मांसपरक। तुलना कीजिए :—

बादाम वनस्पति है। उसकी मज्जा, (गिरी) के गुण-दोष भी मुर्गे के मांस की तुलना करते हैं इसलिए ऐसे खाद्य भी इस रोग में हानिकारक हैं। इसलिये लेने वर्ज्य हैं।

(ग) **"वातादमज्जा मधुरा वृष्या तिक्ताऽनिलापहा।**
स्निग्धोष्णा कफकृन्नेष्टा, रक्तपित्तविकारिणाम् ॥१२५॥
(भावप्रकाश निघण्टु)

अर्थ—बादाम की मज्जा (गिरी) मीठी, पुष्टिकारक, वात का नाश करने वाली. गुरु अम्ल, शुक्रल, स्निग्ध, उष्णवीर्य और कफ करने वाली होती है। इसका सेवन रक्तपित्त के रोगियों को हानिकारक है।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुर्गे का मांस उष्णादि गुण वाला होने से रक्तपित्त रोग, दाहज्वर, पित्तज्वर, अतिसार तथा पेचिश आदि रोगों की शांति के लिये कदापि उपयुक्त नहीं हो सकता है।

हम लिख आये हैं कि 'मार्जार' के (१) हिंगोट का वृक्ष, (२) अगस्त्य का वृक्ष, (३) अगस्ति की शिम्बा, (४) लवंग आदि अनेक अर्थ होते हैं। इन हिंगोट (इंगुदी), अगस्त्य और अगस्त्य की शिम्बा इस रोग को शमन करने के लिये उपयोगी है, क्योंकि ये त्रिदोष नाशक हैं। वायु को शमन करने का भी इन में गुण हैं। किन्तु 'लवंग' में वायु त्रिदोष नाशक गुण होने के साथ-साथ अनेक ऐसे विशिष्ट गुण भी विद्यमान हैं, जो इस रोग में अत्यन्त उपयोगी हैं तथा विवादास्पद सूत्रपाठ की टीका में श्री अभयदेवसूरि ने लिखा है **"मार्जारो विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृतं भावितम्॥**

अर्थात्—वरालक नाम की औषधि विशेष से भावना दी (संस्कारित की) हुई। सो "वरालक" नाम की औषधि निघण्टुकारों ने लवंग को माना है। लवंग के गुणों का वर्णन हम पहले लिख चुके हैं। लवंग का पुट देना तथा संस्कारित करना जम्बीर फल के गूदे के साथ इसलिये आवश्यक है

कि अम्बीर फल का गूदा वायु कर्ता है। और वायु इस रोग में हानिकारक है। लवंग में वायु को शमन करने का गुण विद्यमान है। मात्र इतना ही नहीं किन्तु इस रोग के अनेक लक्षणों का निदान भी है।

अतः "मज्जारकडए" शब्द का अर्थ हुआ कि "विरालिका" नाम की वनस्पति से संस्कारित किया हुआ।

अब "मज्जारकडए, कुक्कुडमंसए" शब्दों का नीचे लिखा अर्थ स्पष्ट हो जाता है—

"वायु[1], रक्तपित्त, पेचिश, अतिसार, दाह, पित्तज्वर आदि रोगों को शांत करने के लिये, बरालक (लवंग) नामक वनस्पति से संस्कारित बीजोरे (जम्बीर) फल के गूदे का पाक (मुरब्बा)।

(१२) भगवतीसूत्र के विवादास्पद सूत्रपाठ का वास्तविक अर्थ :—

भगवतीसूत्र का मूल पाठ :—

तं गच्छह णं तुमं सीहा! मेंढियगामं नगरं रेवतीए गाहावतिणीए गिहे, तत्थ णं रेवतीए गाहावइणीए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जार-कडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि, एएणं अट्ठो।

इस उपर्युक्त सूत्रपाठ का वास्तविक स्पष्टार्थ यह है :—

"(श्रमण भगवान् महावीर ने अपने शिष्य सिंह मुनि से कहा)

हे सिंह! तुम मेंढिक ग्राम नगर में गृहपति की भार्या रेवती (श्राविका) के घर जाओ। उसने मेरे लिये दो छोटे कुष्माण्ड[2] (पेठा)

१—भगवान् महावीर को तीन प्रकार के रक्तपित्त रोगों में से अधो-रक्तपित्त रोग था। यह रोग वायु प्रकोप से पित्त विकृत होकर होता है। अतः वायु को शमन करने से रक्तपित्त विकार दूर होता है।

२—यद्यपि इस वनस्पतिपरक औषध में रोग को शमन करने के गुण मौजूद थे तो भी जैन निर्ग्रन्थ श्रमण के निमित्त तैयार किए हुए होने से निर्ग्रन्थ श्रमण उसे ग्रहण नहीं कर सकते थे, क्योंकि जैन श्रमण के निमित्त

फल पका कर तैयार किये हैं उनकी तो आवश्यकता नहीं है (आधाकर्मी दोष युक्त होने से)। पर उसके यहां कुछ दिन पहले मार्जार (लवंग) नामक वनस्पति से सस्कारित (भावना दिये हुए) बीजोरे (जम्बीर) फल के गूदे से तैयार किया हुआ औषधीय पाक (मुरब्बा) पडा हुआ है (जो कि उसने अपने घर के लिये बना कर तैयार करके रखा है) उस की आवश्यकता है। उसे ले आओ।"

यही अर्थ प्राचीन टीकाकारों तथा चर्णिकारों ने किया है, जो कि उपर्युक्त विवेचन से मर्वथा ठीक प्रमाणित हो जाता है। अत:—

(१) अध्यापक धर्मानन्द कोसाम्बी इस सूत्रपाठ का अर्थ किया गया है कि :—

उस समय महावीर स्वामी ने सिंह नामक अपने शिष्य से कहा— "तुम मेढिग गाव में रेवती नामक स्त्री के पास जाओ। उस ने मेरे लिए दो कबूतर पका कर रखे हैं। वे मुझे नहीं चाहिये। तुम उससे कहना— कल बिल्ली द्वारा मारी गयी मुर्गी का मास तुमने बनाया है, उसे दे दो।'

पाठक समझ गये होंगे कि कोसाम्बी जी द्वारा स सूत्र पाठ का किया गया अर्थ किनना असंगत, अघटित, अनुचित और भ्रान्तिपूर्ण है। बिल्ली द्वारा मारी गयी मुर्गी ऐसी अस्पृश्य तथा घृणित वस्तु को रेवती जैसी बारह व्रत धारिणी उत्कृष्ट श्राविका अपने घर लाकर और उसे पका कर तैयार करे तथा रक्तपित्त, दाह रोग की शान्ति के लिये ऐसी वस्तु का प्रयोग उचित मान लिया जावे, ये सब मान्यताएं अप्रासंगिक, वास्तविकता से दूर तथा कपोलकल्पित जचनी है।

(२) तथा मंसए और कडए शब्दों का पुल्लिग प्रयोग भी प्राण्यंग

बनाया हुआ निर्ग्रन्थ श्रमणों को लेने के लिये भगवान् महावीर स्वामी ने मना किया है (सोमिल ब्राह्मण तथा भगवान् महावीर स्वामी के सम्वाद से हमने इस बात को स्पष्ट ज्ञात किया है) ऐसी अवस्था में महा श्रमण भगवान् महावीर स्वयं भी इसे ग्रहण नहीं कर सकते थे, क्योंकि कूष्माण्ड पाक उन के लिये बनाया गया था।

मास के पक्ष में विरोधी है। इससे यह मान्यता निराधार हो जाती है।

(३) उस समय भगवान् महावीर स्वामी की शा ीरिक अवस्था कितनी गम्भीर थी, यह दिखलाये बिना कोसाम्बी जी की मान्यता को असंगत ठहराना कठिन था, इसलिये हमने इसका विस्तृत वर्णन कर स्पष्ट किया है। अतः जिनका शरीर छः महीनों से दाहज्वर-ग्रस्त हो, बाह्याभ्यन्तर तापमान बहुत चढ़ा हुआ हो और खून के दस्त हो रहे हों; ऐसी अवस्था में भगवान् महावी र अपने शिष्य निर्ग्रन्थ मुनि सिंह के द्वारा मुर्गीका बासी मास मंगा कर खाने की इच्छा करे, यह बात वैद्यों, डाक्टरों के सिद्धान्तों के एक दम विरुद्ध तो है ही, पर सामान्य मनुष्य की दृष्टि से भी भगवान् महावीर की यह प्रवृत्ति आत्मघातक ही प्रतीत होगी।

तृतीय खण्ड

उपसंहार

(१) सामान्य रूप से सबसे प्राचीन ऋग्वेद संहिता में आमिष शब्द का प्रयोग ही नहीं मिलता, इतना ही नहीं बल्कि प्राचीन वैदिक निघण्टु में भी मांस अथवा इसके किसी पर्याय का नाम नहीं मिलता। इसका कारण यह तो नहीं हो सकता कि उस समय मांस पदार्थ ही नहीं था। मनुष्य पशुओं के शरीर में रहने वाली धातुओं में से तृतीय मांस धातु उस समय भी विद्यमान था। प्राचीन वेद तथा उसके प्राचीन वैदिक कोश में उसका उल्लेख न होने का कारण यही है कि तत्कालीन ऋषि लोग प्राण्यंग रूप माम का किसी कार्य में उपयोग नहीं करते थे। अतः उनकी बतायी हुई वैदिक ऋचाओं में मांस शब्द नहीं था और न ही उनके निघण्टुओं मे लिखने की आवश्यकता थी। यद्यपि "ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में मास शब्द का प्रयोग हुआ है परन्तु वे सूक्त ऋग्वेद में पीछे से जोड़ दिये गये हैं, ऐसी अनेक विद्वानों की मान्यता है। "शुक्ल यजुर्वेद के अश्वमेध प्रकरण में अनेक पशुओं की हिंसा की चर्चा है जो इस संहिता के रचयिता विद्वान याज्ञवल्क्य के वाजसनेयी होने का परिणाम है। इन्हीं की बदौलत यज्ञों में कुछ समय के लिये हिंसा खूब बढ़ चली थी, परन्तु अथर्ववेद के समय यह हिंसा का प्रवाह रुक पड़ा था"। 'अथर्ववेद' में बन्ध्या गौ के वध का प्रसंग आया अवश्य है, परन्तु इस वेद के अन्य स ज्ञों में मांस खाने का निषेध भी किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि भाष्यकार यास्क के समय तक पशुयज्ञ और मांसभक्षण मर्यादित हो गया था। इसी कारण से मांस शब्द की जो व्युत्पत्ति की है वह प्राण्यंग मांस को नहीं, परन्तु वनस्पत्यंग मांस को ही लागू होती है। यहाँ मांस प्राण्यंग रूप नहीं पर फल मेवों के गर्भ अथवा

पिष्टान्न आदि से बनाये गये मिष्टान्न भोजन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मांस शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य यास्क कहते हैं :—

"मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदति वा।"

अर्थ—मांस कहो, मानन कहो, मानस कहो ये सब एक ही अर्थ के प्रतिपादक पर्याय हैं और ये उस भोजन के नाम हैं; जो आगन्तुक माननीय महमान के लिये तैयार किया जाता था और वह समझता था कि मेरा बड़ा मान किया गया है।

"मन ज्ञाने" इस धातु से मांस शब्द निष्पन्न हुआ है और इसका अर्थ होता है, बड़े आदमी के सन्मान का साधन।

पुरातत्त्वज्ञाता विद्वानों ने आचार्य यास्क का समय ईसा पूर्व नवम शताब्दी निश्चित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आज से तीन हजार वर्ष पूर्व के वैदिक साहित्य मे मांस शब्द वनस्पतिनिष्पन्न खाद्य के अर्थ मे प्रयुक्त होता था।

इस के बाद धीरे-धीरे मधुपर्क और पिष्टकर्म में प्राण्यंग मांस का प्रयोग होने लगा। "बोधायन गृह्यसूत्र" में जो कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी की कृति मानी जाती है—यह आग्रह किया गया है कि मधुपर्क में प्राण्यंग मांस अवश्य होना चाहिये यदि पशु मांस न मिले तो पिष्टान्न का मांस तैयार कर काम में लिया जाए।

"आरण्येन वा मांसेन ॥५२॥ न त्वेवामांसोऽर्घ्यः स्यात् ॥५३॥ अशक्तौ पिष्टान्नं संसिध्येत् ॥५४॥"

अर्थ—(गौ के उत्सर्जन कर देने पर अन्य ग्राम्य पशुओं के अभाव में) आरण्य पशु के मांस से अर्घ्य किया जाय, क्योंकि मांस बिना का अर्घ्य होता ही नहीं। यदि आरण्य मांस की प्राप्ति न कर सके तो पिष्टान्न से उसे (मास को) तैयार करे।

उपनिषदों मे भी मांस तथा आमिष शब्द प्रयुक्त हुए दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु वहाँ सभी जगह में वनस्पति खाद्य पदार्थ का अर्थ प्रतिपादन किया गया है। उपनिषद् वाक्य कोश में लिखा है—

"मांसमुबृवीथ ।" "यो मध्यमत्स्तन्मांसम् ।"

अर्थ—मास के गुण गाओ । जो भीतर का सार भाग है ।

उक्त उद्धरणों से भली-भांति प्रमाणित हो जाता है कि वैदिक प्राचीन साहित्य में अति पूर्व काल में मांस–आमिष आदि शब्द वनस्पति खाद्यों के अर्थ में प्रयुक्त होते थे और भोजन में पश्वङ्ग की प्रवृत्ति बढ़ने के समय में इन शब्दों का धातु प्रत्यय से व्यक्त होने वाला अर्थ तिरोहित हो गया, और प्राण्यंग मांस ही मांस शब्द का वाच्यार्थ बन गया ।

पिछले समय में जब कि मांस तथा आमिष शब्द केवल प्राण्यंग मांस बन चुके थे, उस समय भी 'आमिष' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता था । ऐसा ' र्म सिन्धु' ग्रंथ में दिये गये निम्नलिखित प्राचीन श्लोकों से ज्ञात होता है ।

"प्राण्यंगचूर्णं चर्मस्थोदकं जम्बीरं बीजपूरं यज्ञशेषभिन्नं विष्णु-निवेदितान्नं दुग्धान्नं मसूरं मांसं चेत्यष्टविधमामिषं वर्जयेत् ।"

अन्यत्र तु "गोछागीमहिष्यन्यदुग्धं पर्यु षितान्नं द्विजेभ्यः क्रीता रसा भूमिलवणं ताम्रपात्रस्थगव्यं पल्वलजलं स्वार्थपक्वमन्नमित्यामिष-गणः उक्तः ॥"

अर्थ—प्राणधारी के किसी भी अंग का चूर्ण, चमड़े में भरा हुआ पानी, जम्बीर फल, बीजोरा, यज्ञशे के अतिरिक्त विष्णु को निवेदित नहीं किया हुआ अन्न, जला हुआ अन्न, मसूर धान्य और मास इन आठ पदार्थों का समुदाय आमिषगण कहलाता है । मतान्तर से आमिष गण—गाय, बकरी, भैंस के दूध को छोड़कर शेष जानवरों का दूध, बासी अन्न, ब्राह्मण से खरीद की हुई जमीन, जमीन पर के खार से तैयार किया आ नमक, ताम्रपात्र में रखे हुए पांच गव्य, छोटे खड्डे में रहा हुआ जल, आत्मार्थ पकाया हुआ भोजन, यह दूसरे प्रकार का आमिषगण है ।

उपर्युक्त दोनों आमिषगणों में आमिष शब्द अभक्ष्य अथवा अपेय पदार्थों में प्रयुक्त हुआ है । इससे ज्ञात होता है कि 'धर्मसिंधु' गत उपर्युक्त दो सूत्रों के निर्माण समय से पहले ही वैदिक साहित्य में आमिष

शब्द का "अच्छा भोजन", यह अर्थ भूला जा चुका था। यही कारण है कि उक्त पदार्थों को आमिष का नाम देकर वर्जित बताया गया है। (मा० भो० मी०, क० वि०)

(२) आयुर्वेद, जैन तथा बौद्ध आदि के प्राचीन ग्रंथों मे आमिष, मास, मत्स्य, आस्थिक आदि शब्दों का प्रयोग वनस्पत्यगों तथा पक्वान्नो आदि खाद्य पदार्थों के लिये किया गया मिलता है। इसका विवेचन हम द्वितीय खण्ड मे विस्तृत कर[1] आये हैं। तत्पश्चात धीरे-धीरे इन शब्दों का प्रयोग प्राण्यंगों,

---

१. पचामाग भगवतीसूत्र मे इस चर्चास्पद सूत्र पाठ के वनस्पतिपरक अर्थ के समान ही आचाराग, दशवैकालिक आदि के चर्चास्पद सूत्र पाठो के भी वनस्पतिपरक अर्थ है। जैनागमों में आये हुए चर्चास्पद शब्दो के प्राण्यगों के अतिरिक्त निरामिष अर्थ प्राचीन भारतीय साहित्य से सप्रमाण यहाँ दिये जाते हैं : ये शब्द अट्ठि, अट्ठिय, आमिष, कटय, मच्छ, मंस, मज्ज आदि हैं।

	अर्द्धमागधी	सस्कृत	निरामिषार्थ	स्थल
१	अट्ठि	अस्थि	बीज, गुठली, लकडी	कौटिलीय अर्थशास्त्र पृ० ११८, सुश्रुत संहिता, वृहदारण्योपनिषद्
२.	अट्ठिय	१. अस्थिक	१. जिसमें बीज न बना हो ऐसा अपरिपक्व फल, गुठली वाले बेर, आम आदि फल	वृह० १ पण्णवणा सूत्र
		२. आर्थिक	२. मोक्ष का कारण	उत्तराध्ययन १
३.	आमिम	आमिप	१. आहार, फलादि भोज्य वस्तु	पंचा० ६

वनस्पत्यंगों तथा पक्वान्नों आदि में समान रूप से होने लगा। उस समय प्राण्यंग मांस हल्के मनुष्यों तथा क्षत्रियों आदि शिकारी जातियों का खाद्य अवश्य बन गया था। वेदविहित यज्ञों में पशु-बली की प्रथा के कारण प्राण्यंग मांस जो यज्ञो में बली से बनता था वह भी धर्मश्रद्धा से खाद्य बनता जा रहा था। तथापि जैन श्रमण एव जैन श्रमणोपासक गृहस्थ (श्रावक) इसका आहार कदापि न करते थे। किन्तु जैन तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ ने राजा उग्रसेन के वहाँ भोजनार्थ बाँधे गये पशुओं को अभय दान दिलाया तथा भगवान् महावीर स्वामी ने पशुओं के यज्ञों का घोर विरोध किया। यह सब कुछ होने पर भी गौतम बुद्ध ने भगवान् महावीर स्वामी के समान ही हिंसक यज्ञों का विरोध किया। किन्तु तथागत गौतम बुद्ध एवं उनके भिक्षुओ में प्राण्यंग मत्स्य, मांस आदि का भक्षण होने लग गया था। ईसा की प्रथम

---

		२. नैवेद्य मिष्टान्न, पक्वान्न	संबोध प्रकरण
		३. आमिष पूजा—नैवेद्य पूजा	धर्मरत्न करंडक (वर्धमान सूरिकृत)
		४. जम्बीर फल, बिजोरा, जला हुआ अन्न, मसुर धान्य, गाय, भेस, बकरी के दूध के सिवाय अन्य दूध। बासी अन्न, नमक, अपने लिये पकाया हुआ भोजन इत्यादि।	धर्म सिन्धु
४. कंटय कंटग	कंटक	१. कांटा २. शल्य	हे० १ विपाक १, ८

शताब्दी के बाद मांस शब्द जो पिष्ट से निष्पन्न मिष्टान्न तथा फल गर्भ के अर्थ में प्रयुक्त होता था, वह धीरे-धीरे भूला जाने लगा। ईसा की प्रथम शताब्दी से पूर्व निर्मित जैनागमों तथा प्रकीर्णकों में मांस आदि शब्द वनस्पत्यंग तथा पक्वान्नों के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। इसके बाद के जैन ग्रंथों में मांस और पुद्गल शब्दों का प्रयोग प्राण्यंग मांस के रूप में भी प्रयुक्त होने लगा।

(३) जैनागमों में आये हुए विवादास्पद सूत्र पाठों का वास्तविक अर्थ समझने के लिये यह आवश्यक है कि जैनागमों की रचना का इतिहास भी जाना जाय ताकि स्पष्टार्थ समझने में सुगमता प्राप्त हो।

---

			३. दु:खोत्पादक वस्तु	उत्तराध्ययन १
५.	कंटय बोंदिया—कंटक शाखा		१. कांटों वाली वृक्ष शाखा	आचारांग २, १, ५
	मच्छ	मत्स्य	१. मत्स्याकृति के बनाये हुए उड़द की पीठी के पक्वान्न, कोद्रव धान्य के तंदुल, व्रीहि के तंदुल	क्षेम कुतूहल कौटिलीय अर्थशास्त्र अ० २४ पृष्ठ ११७
		मादयति अनेन इति मत्स्य।	नशा करने वाले धान्य	
	मच्छंडिया	मत्स्यंडिका	अण्ड शर्करा—एक प्रकार की शक्कर	पण्ह० २, ४, णाया०
६.	मंस	मांस	१. फलियों का गूदा, फल का गूदा, मेवों का गूदा	वृहदारण्योपनिषद् सुश्रुत संहिता,

भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी ४२ वर्ष की आयु में ईसा पूर्व ५५७ वर्ष में केवल ज्ञान प्राप्त कर अपने सिद्धान्तों का सार्वत्रिक प्रचार करना प्रारम्भ किया और ईसा पूर्व ५२७ वर्ष में निर्वाण (मोक्ष) पाने तक लगातार जो ३० वर्षों तक उपदेश दिया, उस उपदेश को उनके मुख्य शिष्यों—गणधरों ने सूत्र रूप में गुंथन किया और उन्हें द्वादशांगों—बारह अंगों (शास्त्रों) में संगृहीत कर अपनी शिष्य परम्परा में इनका कंस्थ पठन-पाठन चालू रखा। भगवान् महावीर स्वामी के बाद इस द्वादशांगी के आधार से पूर्वविद् जैनाचार्यों ने समय-समय पर जिन शास्त्रों की रचना की वे आगम तथा प्रकरणों के नाम से प्रसिद्ध हुए। भगवान् महावीर स्वामी द्वारा उपदिष्ट द्वादशांगी अंग प्रविष्ट तथा उसके आधार से रचे गये शास्त्र

---

			२. गरिष्ठ खाद्य पदार्थों में प्रथम नम्बर का खाद्य-पदार्थ जो घी शक्कर, पीठी आदि से बनाया जाता है, उसमें केसर अथवा लाल चन्दन का रंग दिया जाता है।	अनेकार्थ संग्रह कोश
७.	मज्ज	१. मस्ज	स्नान करना, डूबना	हे० ४, १०१
		२. मद्य	संधान जल	भाव०
		३. मृज	साफ़ करना, मार्जन करना	षड्० प्राकृ० हे०

अध्यापक कोसाम्ब्री ने "भगवान् बुद्ध" नामक पुस्तक में जैनागमों-दशवैकालिक तथा आचारांग के जिन सूत्र पाठों के उद्धरण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जैन साधु प्राण्यंग मांस भक्षक थे वहाँ सब अर्थ वनस्पतिपरक हैं। उन सूत्र पाठों के पूर्वापर सम्बन्ध से यह बात स्पष्ट है।

समूह अंगवाह्य के नाम से कहे जाते हैं। भगवान् महावीर स्वामी के ग्यारह गणधर थे, उनमें से नव तो भगवान् महावीर की जिंदगी में ही निर्वाण (मोक्ष) को पा गये थे। जिस रात्रि को भगवान् महावीर ने निर्वाण पाया था उसी रात्रि को उनके प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम को केवल-ज्ञान हो जाने से एक मात्र पांचवें गणधर श्री सुधर्मा स्वामी उस समय भगवान महावीर के चतुर्विध संघ (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) रूप तीर्थ के नेता (संघ नायक आचार्य) संरक्षक बने। जैन श्रमण बाह्याभ्यंतर परिग्रह के सर्वथा त्यागी होने से उन्हें निर्ग्रन्थ (निग्गठ अथवा निग्गंथ) के नाम से संबोधित किया जाता था। वे निर्ग्रंथचर्या के पालन के लिये अत्यावश्यक कतिपय उपकरणों के सिवाय अपने पास अन्य कोई भी पदार्थ नहीं रखते थे तथा उस समय केवली, गणधर एवं द्वादशांगी (ग्यारह अंग तथा चौदह पूर्वों) का ज्ञाता गीतार्थ जैन श्रमण संघ विद्यमान होने से भगवान् महावीर की वाणी को लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। भगवान् महावीर के बाद १७० वर्षों तक श्री भद्रबाहु स्वामी तक द्वादशांगी को निर्ग्रन्थ श्रमणों ने बराबर कंठस्थ याद रखा, इसलिये उस ज्ञान में कमी नहीं आयी। श्री स्थूलभद्र जो कि आचार्य भद्रबाहु स्वामी के समकालीन तथा उनके बाद उनके पट्टधर आचार्य नियुक्त हुए वे ग्यारह अंगों तथा दस पूर्वों के अर्थ सहित ज्ञाता एवं चार पूर्वों को मूल सूत्र पाठ से जानते थे। उस समय अनेक अन्य निर्ग्रन्थ भी इतने ज्ञान के ज्ञाता थे। यह समय ईसा पूर्व चौथी शताब्दी ठहरता है। आर्य सुहस्ती, आर्य महागिरि, महाराजा सम्प्रति के समय हुए (ई० पू० २२०)। फिर ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी (ई० पू० १७४) में जैन सम्राट कलिंगाधिपति खारवेल ने अपनी महा विजय के बाद अपनी राजधानी में एक धर्म सम्मेलन किया। उस समय निर्ग्रन्थ श्रमण बहुत संख्या में पधारे। "वहाँ उन सब ने जैनागमों की वाचना की और उन्हें व्यवस्थित किया।" ऐसा हाथी गुफ़ा के शिलालेख से ज्ञात होता है। इसी प्रकार बीच-बीच में एक-दो शताब्दियों के बाद निर्ग्रन्थ श्रमण किसी न किसी स्थान पर एकत्रित

होकर जैनागमों का परस्पर मिलकर वाचन करके उन को सुरक्षित रखते आये। ईसा की प्रथम शताब्दी में वज्रस्वामी हुए तब तक ग्यारह अंग तथा पूर्वों का ज्ञान कंठस्थ सुरक्षित रहा। इसके बाद काल के स्वभाव से बुद्धि मंद हो जाने के कारण से निर्ग्रन्थ श्रमण आगम पाठ भूलने लगे। भगवान् महावीर स्वामी के चौबीसवें पाट पर श्री सकंदिलाचार्य हुए, उस समय बारह वर्षीय दुष्काल पड़ने के कारण जैन श्रमणों को अंग-उपांग भी पूर्ण रूप से याद नहीं रहे। सुभिक्ष होने पर मथुरा में सकंदिलाचार्य की अध्यक्षता में जैन श्रमणों का फिर एक बृहत्सम्मेलन हुआ। उस समय निर्ग्रन्थ श्रमण संघ ने एकत्रित होकर जिस साधु को जिस शास्त्र का जितना पाठ कंठस्थ याद था वह एकत्र करके जैनागमों को पुनः सकलित किया गया। इसलिये इसे माथुरी वाचना कहते हैं। यह समय लगभग ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी का ठहरता है। इस प्रकार बीच-बीच में एक-दो शताब्दियों के बाद निर्ग्रंथ श्रमण अपना सम्मेलन करके जैनागमों के अपने कंठस्थ ज्ञान का पुनर्वाचन करके उन्हें व्यवस्थित रखते आये। अन्त में काल के स्वभाव से जब स्मरणशक्ति में अधिक कमी आने लगी और सूत्र पाठ विस्मरण होते चले गये। तब ईसा की पांचवीं शताब्दी में (भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के ९८० वर्ष बाद) वलभी नगरी में समस्त निर्ग्रंथ श्रमणों का एक बृहत्सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के अध्यक्ष जैनाचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण थे। यह उस समय के युग-प्रधान और मुख्याचार्य थे। सम्मेलन में जिस-जिस साधु को आगमों के जो-जो पाठ कंठस्थ याद थे उनका वाचन हुआ। वाचना के पश्चात् यह मालूम हुआ कि चौदह पूर्व पूर्ण भूले जा चुके हैं। बाकी के ग्यारह अंगों के भी कुछ भाग विस्मरण हो चुके हैं। इस निर्ग्रन्थश्रमणसंघ के सामने विकट समस्या उपस्थित थी। यदि इस समय बचे हुए इस कंठस्थ आगम ज्ञान को लिपिबद्ध न किया गया तो कालांतर में यह भी भूल जाने से भगवान् महावीर की द्वादशांगी वाणी का पूर्ण रूप से विच्छेद हो जायगा और यदि लिखा जाता है तो इस काम को निर्ग्रन्थश्रमणसंघ

को स्वयं निष्पन्न करना होगा। यदि ऐसा ही आवश्यक है तो श्री निर्ग्रन्थ-श्रमणसंघ को संयम पालन के निमित्त अपने उपकरणों में लेखनी, स्याही, ताड़पत्र इत्यादि की वृद्धि करनी पड़ेगी। अन्त में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का विचार करके जिससे अहित का परिहार तथा हित का लाभ हो ऐसे उत्सर्ग-अपवाद रूप स्याद्वाद की दृष्टि को लक्ष्य में रखते हुए उस समय एकत्रित हुए निर्ग्रन्थश्रमणसंघ ने सर्वसम्मति से इस कंठस्थ ज्ञान को लिपिबद्ध करके पुस्तकारूढ़ करने का निर्णय किया। इस निर्णय के अनुसार श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में जो-जो आगम पाठ जिस-जिस निर्ग्रन्थ श्रमण को याद थे उन सब को बिना किसी फेर-फार के ताड़पत्रों पर लिख कर लिपिबद्ध किया। भगवान् महावीर के समय से लेकर इस समय तक जितने आगमों प्रकीर्णकों की रचना हुई थी, फिर वे चाहे अंगप्रविष्ट थे या अंगबाह्य थे उन का जितना-जितना भाग याद था सब संगृहित कर लिया गया। अर्थात् ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा की पांचवीं शताब्दी तक के जैन साहित्य को लिपिबद्ध करके लिख लिया गया। तत्पश्चात् इस आगम-साहित्य पर निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, टीकाएं आदि लिखे गये। तथा अनेकविध नवीन साहित्य की रचना भी होती आ रही है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनागमों में जो कि इस समय विद्यमान है उन की मूल भाषा जैसी कि भगवान् महावीर स्वामी ने अपने श्रीमुख से दिव्य ध्वनि द्वारा अपनी देशना (उपदेश) मे कही थी वही भाषा बिना किसी फेर-फार के सुरक्षित है।

(४) इन जैनागमों पर टीकाएं आदि लिखने वाले टीकाकार समर्थ विद्वान थे, जैन सिद्धान्तों तथा आचारों के जानकार एवं प्रतिपालक थे। उनके रोम-रोम में जैनधर्म का अनुराग भी था। ऐसा होते हुए भी वे छद्मस्थ थे और इन आगमों पर ीकाओं की रचनासमय तक तो इन विवादास्पद शब्दों के प्राचीन अर्थ प्रायः भूले जा चुके थे तथा इनके नवीन अथ प्राण्यंगों के रूप में प्रचार पा चुके थे। इसलिये शब्द कोशकारों ने भी अपने नवीन शब्द कोशों में इन शब्दों के अर्थ को प्राण्यंग रूप में लिखा। यह बात

व्याख्याताओं से छिपी नहीं है। ऐसी हालत में इन विवादास्पद सूत्र-पाठों के अर्थ में मत-भेद होना स्वाभाविक था। जिन्हें तो प्राचीन गुरु-परम्परा द्वारा किये जाने वाला अर्थ याद था वे तो इन शब्दों का अर्थ वनस्पतिपरक तथा पक्वान्नादि खाद्य पदार्थ करते थे और जो उन प्राचीन अर्थों को भूल चुके होंगे और उस समय के प्रचलित अर्थ करते होंगे वे इन शब्दों का अर्थ प्राण्यंगों का समझने लगे हों तो इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि कोई-कोई आचार्य अपनी छद्मस्थावस्था के कारण प्राचीन समय से किये जाने वाले अर्थों के बदले मांसपरक अर्थ समझने लगे हों तो भी जब वे जैन आचार विचारों के साथ तुलना करते तो उन्हें इस बात का विस्मय हुए बिना नहीं रहता होगा कि नवकोटिक अहिंसा के प्रतिपालक तथा उपदेशक निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) तथा निर्ग्रन्थ श्रमणों के आचार सम्बन्धी सूत्र-पाठों में ऐसे मासनिष्पन्न पदार्थों के व्यवहार की आज्ञा क्यों?

जैनाचार्यों ने शब्द से भी अर्थ को अधिक महत्त्व दिया है। इसके मूल की खोज की जाय तो पता लगता है कि जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकर तो केवल अर्थ का उपदेश देते हैं। "शब्द गणधर के होते हैं'। अर्थात् मूलभूत अर्थ है न कि शब्द। वैदिकों में तो मूलभूत शब्द है उस के बाद उसके अर्थ की मीमांसा होती है। इसलिये जैनधर्म के अनुसार मूलभूत अर्थ है, शब्द तो उसके बाद आता है। यही कारण है कि सूत्रों के शब्दों का उतना महत्त्व नहीं, जितना उनके अर्थों का है। इसी लिये जैनाचार्यों ने शब्द को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना कि अर्थों को दिया और फलस्वरूप शब्दों को छोड़ कर वे तात्पर्यार्थ की ओर आगे बढ़ने में समर्थ हुए। शब्द का केवल क प्रसिद्ध अर्थ करना "भाषा" है, एक से अधिक अर्थ करना "विभाषा" है; तथा यावत् अर्थ का देना "वार्तिक" है।

आचार्य अपनी ओर से सूत्रों की व्याख्या करते हैं, किन्तु उस व्याख्या का तीर्थंकर देवों की किसी भी आज्ञा से विरोध नहीं होना चाहिये।

तीर्थंकर देव की आज्ञा के विरोध में अपनी आज्ञा देने का अधिकार आचार्य को नहीं है। क्योंकि तीर्थंकर और आचार्य की आज्ञा में बलाबल की दृष्टि से तीर्थंकर देव की आज्ञा ही बलवती मानी जाती है, आचार्य की नहीं। अतएव तीर्थंकर देव की आज्ञा की अवहेलना करने वाला व्यक्ति अविनय एवं गर्व के दोष से दूषित माना गया है। जिस प्रकार श्रुति और स्मृति में विरोध होने पर श्रुति ही बलवान मानी जाती है, उसी प्रकार तीर्थंकर की आज्ञा आचार्य की आज्ञा से बलवती है।

यही कारण है कि प्रथमांग आचारांग के टीकाकार श्री शीलंकाचार्य तथा दशवैकालिक आगम के टीकाकार श्री हरिभद्रसूरि ने सूत्र पाठों में आने वाले इन विवादास्पद शब्दों के अर्थ जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों के अनुकूल करने के लिये अपनी बुद्धि का ठीक-ठीक उपयोग करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। पृथ्वी, पानी आदि छः काय जीवों की दया पालने वाले, कीड़ियों की करुणा के लिये कड़वी तुम्बी का आहार करने वाले तथा अपने मान्य तीर्थंकर देवों के सिद्धान्त को पालन करने के उपलक्ष में पाँच-पाँच सौ एक ही समय में घानी में पीले जाने पर भी हंसते-हंसते अपने प्राणों की आहुति देने वाले जैन निर्ग्रंथ अनिवार्य संयोगों में भी मांस मछली आदि का भक्षण क` ऐसी बात उन के गले भी न उतरी। तथा जिस प्रकार इन सूत्रों के विवादास्पद भागों को आजकल के कुछ विद्वान क्षेपक अथवा विचारणीय मानते हैं, उन टीकाकारों ने इन आधुनिक विद्वानों के समान धृष्टता भी नहीं की। उन्होंने अपनी बुद्धि को कसकर मूल सिद्धान्त के हार्द के जितना समीप से समीप जाया जा सका उतना जाने का प्रयत्न किया। किन्तु उन्होंने किसी भी स्थान पर मांस-मछली आदि अभक्ष्य पदार्थों को खाने का अर्थ तो किया ही नहीं।

पंचमांग भगवतीसूत्र के टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने तो इसमें आये हुए विवादास्पद सूत्र पाठ का स्पष्टार्थ वनस्पति-परक ही स्वीकार किया है। अतः प्राचीन टीकाकारों, चूर्णिकारों के मतानुसार भी निर्ग्रंथ श्रमण मांस-भक्षण अथवा मांस-भिक्षा करते थे यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता।

अतः भगवतीसूत्र के अलावा आचरांग, दशवैकालिक, एवं सूर्य-प्रज्ञाप्ति आदि अन्य जैनागमों में आने वाले ऐसे विवादास्पद शब्दों का अर्थ भी वनस्पतिपरक तथा पक्वान्न आदि ही निर्ग्रंथ आचार-विचारों के साथ प्राचीन वेद तथा प्राचीन जैनादि ग्रन्थों के अनुसार संगत बैठता है, किन्तु मांसपरक सर्वथा असंगत है। यदि किसी आधुनिक विद्वान की यह धारणा हो कि इन सूत्रों की रचना के समय रचनाकार को वनस्पतिपरक तथा मांसपरक दोनों ही अर्थ अभिप्रेत थे तो उनकी यह धारणा उपर्युक्त उदाहरणों से सर्वथा असत्य ठहरती है। दूसरी बात यह है कि कभी भी किसी श्रमण निर्ग्रन्थ ने मांसाहार ग्रहण किया होता तो उसका वर्णन जैन अथवा जैनेतर साहित्य में अवश्य पाया जाता किन्तु हर्ष का विषय है कि किसी भी जैननिर्ग्रन्थश्रमण ने मांसभक्षण किया हो अथवा मांस-भिक्षा ग्रहण की हो उसका नाम तक किसी भी प्राचीन भारतीय साहित्य में नहीं मिलता।

(५) इतने विवेचन से यह बात फलित होती है कि आचारांग, भगवती, सूर्यप्रज्ञप्ति, दशवैकालिक आदि जैन आगमों का रचनाकाल जब इन विवादास्पद शब्दों का प्रयोग वनस्पतिपरक तथा पक्वान्नों आदि के अर्थ में होता था, उतना प्राचीन है। वह समय ठीक भगवान् महावीर स्वामी का ईसा पूर्व छठी शताब्दी का बैठता है इससे यह स्पष्ट है कि वलभी में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में जिन आगमसमूह को सकलित कर लिपिबद्ध किया गया था वह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की वाणी का बिना किसी फेर-फार के संकलन था। जो आज तक श्वेतांबर जैनों के पास सुरक्षित है।

अतः सुज्ञ विद्वानों को चाहिये कि इन सूत्रपाठों का अर्थ करते समय निर्ग्रन्थ आचार-विचार तथा भगवान् महावीर स्वामी के समय के जो अर्थ प्रचलित थे उन्हीं के अनुकूल अर्थ करे। विपरीतार्थ कर अपनी अज्ञानता का परिचय न दे।

(६) यदि निर्ग्रन्थपरम्परा में मछली, मांसाहार आदि का प्रचलन होता अथवा जैनागमों में मछली मांसादि के आहार करने का उल्लेख

होता तो अन्य धर्मावलम्बियों के साहित्य में जैनधर्म के प्रतिस्पर्द्धी रूप में जैनों पर मांसाहार करने का आक्षेप अवश्य पाया जाता। परन्तु यह बड़े गौरव का विषय है कि जैनेतर साहित्य मे जैनों पर इस आक्षेप का सर्वथा अभाव है। मेरे एक मित्र जो एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं लेखक, वक्ता तथा धर्मोपदेशक हैं उन्होंने इस विषय के लिये यह तर्क किया—"संभव हो सकता है कि जैन साहित्य जैनेतर विद्वानों के हाथ में न जा पाया हो, इसलिए हो सकता है कि वे ऐसा आक्षेप जैनों पर न कर पाये हों" उनकी यह दलील कोई युक्तिमगत प्रतीत नही होती, क्योंकि यह कभी संभव नहीं हो सकता कि जैन साहित्य जैनेतर विद्वानों के हाथ में न गया हो। यदि थोड़ी देर के लिये ऐसा मान भी लिया जाय तो भी वैदिक, पौराणिक, जैन तथा बौद्ध साहित्य का अवलोकन करने से पता चलता है कि अनेक निर्ग्रन्थ श्रमण जैनधर्म का त्याग कर अन्य धर्म सम्प्रदायों में जा मिले। अनेकों ने निर्ग्रन्थ श्रमण की चर्या का त्याग कर अपने नवीन सम्प्रदायों की स्थापना भी की। जब वे जैन धर्मोपासक थे तब उन्होंने जैनागमों का अभ्यास तो अवश्य ही किया होगा। इसका यह मतलब हुआ कि वे जैनागमों तथा निर्ग्रन्थाचारों विचारों से पूर्णरूपेण परिचित थे, ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है। यदि जैनागमों तथा जैन आचार-विचारों में किंचित मात्र भी मास मछली आदि अभक्ष्यभक्षण का वर्णन अथवा प्रचलन होता तो वे जैनधर्म के प्रतिपक्षी रूप मे जैनों पर अवश्य आक्षेप करते पाये जाते।

(७) निर्ग्रंथ (जैन) श्रमणों का आचार जनता के समक्ष था, क्योंकि जैन मुनि आहार आदि सदा गृहस्थों के वहाँ से ही ले लेते थे एवं लेते हैं। यदि वे कदाचित् अनिवार्य अवस्था में भी प्राण्यंग मांस-मत्स्यादि का भक्षण करते तो जैनेतर साहित्य मे जैनों पर मांसाहार करने का आक्षेप अवश्य पाया जाता। ऐसा न होना ही यह सिद्ध करता है कि निर्ग्रंथ आचार-विचार से प्राण्यंग मासादि भक्षण को किंचिन्मात्र भी अवकाश नही।

(८) गौतम बुद्ध, जमाली, गोशालक ये तीनों भगवान् महावीर स्वामी

के समकालीन थे तथा ये सभी प्रथम निर्ग्रन्थपरम्परा में दीक्षित हुए और वर्षों तक निर्ग्रन्थ आचारों का पालन भी करते रहे। बाद में इस परम्परा का त्याग कर जब उन्होंने अपने-अपने नवीन पंथों की स्थापनाएँ की तब भी उन्होंने जैनधर्म के प्रतिस्पर्द्धी के रूप में जैन सिद्धान्तों तथा आचारों का घोर विरोध किया। यद्यपि इन तीनों में से बुद्धधर्म के साहित्य के अतिरिक्त किसी पंथ का साहित्य उपलब्ध नहीं है तथापि बौद्ध साहित्य को देखने से हम स्पष्ट जान सकते हैं कि तथागत गौतम बुद्ध ने जब अपने पंथ की स्थापना की उस समय अपने पंथ के प्रचार तथा विस्तार के लिये जैन धर्म के अनेकान्तवाद, तपश्चर्या आदि की कड़ी आलोचना की। शाक्य मुनि गौतम बुद्ध तथा उनके भिक्षु प्राण्यंग मांस, मछली आदि मृतमांस का खुल्लम-खुल्ला निःसंकोच भक्षण करते थे और वे लोग मृतमांसभक्षण में दोष भी नहीं मानते थे। उनके इन अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण करने पर उनके समकालीन निरामिषभोजी मतावलम्बियों ने उन की ऐसी आचार प्रणाली की कड़ी आलोचना की एवं आक्षेप भी किये। उन आलोचकों में जैन भी एक थे। बुद्ध ने अपने इस शिथिलाचार को ढाँकने के लिये तथा अपने धर्मप्रचार के लिये अपने आलोचकों के विरुद्ध अनेक प्रकार से प्रचार किया। इतिहास से यह बात स्पष्ट है कि जैन तथा बौद्ध उस समय परस्पर प्रतिस्पर्द्धी के रूप में थे। ऐसा होते हुए भी बौद्ध साहित्य में जैनों पर मांसाहार करने का आक्षेप न पाया जाना हमारे इस मत की पुष्टि करता है कि निर्ग्रन्थ (जैन) परम्परा में कदापि प्राण्यंग मांस मछली आदि अभक्ष्य पदार्थों के खाने का प्रचलन नहीं था।

(९) मात्र इतना ही नही परन्तु शाक्यमुनि गौतम बुद्ध ने अपनी निर्ग्रन्थ अवस्था की तपश्चर्या का वर्णन करते हुए मत्स्य, मांस, मदिरा आदि सेवन करने का निषेध किया है। ऐसा होने से निर्ग्रन्थ श्रमणों का मांसाहार न करने का स्पष्ट निर्देश पाया जाना भी इसी बात की पुष्टि करता है कि निर्ग्रन्थ (जैन) परम्पराओं में ऐसे अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण का कदापि प्रचलन नहीं था।

(१०) जैन अथवा जैनेतर प्राचीन साहित्य को देखने से यह भी पता चलता है कि सदा से जैन सम्प्रदायों के अनेक समर्थ विद्वानों ने अपने पहले सम्प्रदाय का त्याग कर जैनधर्म को स्वीकार किया। जिनमें निग्गंठ नाय-पुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) के मुख्यशिष्य-गणधर इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण पंडितों ने भी जो चौदह विद्याओं के ज्ञाता थे अपने हजारों शिष्यों के साथ निर्ग्रन्थ श्रमण के पांच महाव्रतों को स्वीकार कर जैन मुनि की दीक्षा ग्रहण की। वे सब जैनधर्म स्वीकार करने से पहले यज्ञों में स्वयं पशुबलि करते थे, दूसरों से करवाते थे, तथा इस प्रथा का सर्वत्र प्रचार भी करते थे, एवं यज्ञों द्वारा तैयार किये हुए प्राण्यंग मांस को खाना अपना परमधर्म समझते थे। शय्यभव, हरिभद्र आदि अनेक समर्थ विद्वानों ने भी ऐसा ही किया। जैनधर्म को स्वीकार करने के बाद ये सब महान् तपस्वी परमसयमी तथा नवकोटिक अहिंसा के प्रतिपालक ब और समर्थ गीतार्थ जैनाचार्यों के रूप में प्रख्यात हुए। यदि जैनधर्म के आचार विचारों मे किंचिन्मात्र भी सामिषाहार की आज्ञा अथवा प्रचार होता तो वे स्वय परम अहिंसक कदापि न बन पाते। मात्र इतना ही नहीं परन्तु वह जैनों पर यह आक्षेप भी अवश्य करते कि आप जैन लोग स्वयं तो सामिषाहार करते हैं फिर भी अन्य सामिषभोजी सम्प्रदायों की आलोचना क्यों करते है? किन्तु परम गौरव का विषय है कि जैनों पर ऐसा एक भी आक्षेप जैन अथवा जैनेतर साहित्य में दृष्टिगोचर नही होता। इस से यह स्पष्ट होता है कि निर्ग्रन्थ (जैन) धर्म मे सामिषाहार को किंचिन्मात्र भी अवकाश नही है।

(११) जहाँ-जहाँ भी जैनधर्म का अधिक प्रभाव रहा, वहाँ के अन्य धर्मावलम्बी भी प्राण्यंग मासादि अभक्ष्य पदार्थों का इस्तेमाल (उपयोग) करने से दूर रहते आ रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं परन्तु आज से हजार बारह सौ वर्ष पहले जब बौद्ध लोग गुजरात प्रदेश में आये तब जैनधर्म के आचार तथा विचार के प्रभाव से प्रभावित हो कर उन्हें भी मत्स्य-मांसादि के प्राण्यंग मांसपरक अर्थों को वनस्पतिपरक

अर्थ करने के लिए बाध्य होना पड़ा तथा बौद्ध ग्रंथों में बौद्ध भिक्षुओं को प्रायंग मांसादि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण के लिये निषेध करना पड़ा। इससे यह स्पष्ट है कि भूतकाल से लेकर आज तक जैनों में मांसाहार का कोई प्रचार अथवा प्रभाव को अवकाश नहीं रहा। ये सब बातें भगवान महावीर तथा निर्ग्रंथ श्रमणों के कट्टर निरामिषाहारी होने का स्पष्ट प्रमाण है ।

(१२) यही कारण है कि मांसाहारी प्रदेशों तथा मांसाहारी देशों में रहने वाले जैन धर्मावलम्बी गृहस्थ भी सदा की भांति आज तक कट्टर निरामिषाहारी हैं। मात्र इतना ही नहीं जैन धर्म को लंबे अर्से से भूल चुकने वाली 'सराक' आदि जातियों का आज भी कट्टर निरामिषाहारी होना उन पर जैनधर्म के आचार तथा विचार की गहरी छाप का ज्वलंत उदाहरण है।

(१३) भारतवर्ष में जैनधर्म को मानने वाली ओसवाल, खंडेलवाल, पोरवाल, श्रीमाल, पल्लीवाल आदि प्रमुख जैन जातियों का निर्माण राजपूतादि मांसाशी जातियों में से हुआ। जब से इन महानुभावों ने जैनधर्म को स्वीकार किया और ये निर्ग्रंथ (जैन) श्रमणोपासक (श्रावक) बने तब से आज पर्यन्त कट्टर निरामिषाहारी हैं। यदि जैन आचार-विचार में मांसाहार की थोड़ी सी भी छूट होती, फिर वह चाहे उत्सर्ग से होती अथवा अपवाद से, तो ये उपर्युक्त श्रमणोपासक जैन जातिया कदापि आज कट्टर निरामिषभोजी न होतीं। इस के विपरीत बौद्धों के समान ये भी सब सामिषाहारी होते। हम देख चुके हैं कि बुद्धधर्म को स्वीकार करने वाले निरामिषभोजी तापस भी मांसाहारी बन गए तथा जैनधर्म को स्वीकार करने वाले मांसाहारी लोग भी कट्टर निरामिषाहारी बन गये। इस से भी स्पष्ट सिद्ध है कि निर्ग्रंथ-परम्परा में मांसाहार का कभी भी प्रचलन नहीं था और न है।

(१४) जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी तथा शाक्य मुनि तथागत गौतम बुद्ध समकालीन थे और आत्मसाधना के एक ही निर्ग्रंथ

पथ के दो पथिक थे। महात्मा बुद्ध इस पथ से भटक गए और भगवान् महावीर स पथ को पार कर सफल हुए। भगवान् महावीर अपनी आत्मा को शुद्ध पवित्र करके कर्ममल से सर्वथा रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर सदा के लिए अमर हो गये तथा महात्मा बुद्ध अपनी चित्त शक्ति को सर्वथा बुझा कर सदा के लिये विलुप्त हो गये। इन दोनों के अपने-अपने आचार विचारों के अनुकूल ही निर्ग्रथ (जैन) परम्परा कट्टर निरामिषाहारी है और बौद्ध-परम्परा मास-मछली आदि सर्वभक्षी है।

(१५) निर्ग्रंथ परम्परा सदा से प्राण्यंग मांस, म ली, अण्डे, मदिरा आदि अभक्ष्यभक्षण का विरोध करती आई है, यही कारण है कि जैन धर्म अन्य मासाहारी परम्पराओं के समान मासाहारी देशों में न फैल सका। भारतवर्ष में ही इसका प्रादुर्भाव हो कर भारत मे सीमित रहा।

(१६) अत: (क) भाषाशास्त्र के इतिहास के अभ्यासी से यह बात कदापि छिपी नहीं रह सकती कि आचाराग आदि प्राचीन जैन आगमों के रचनाकाल के समय मांस-आमिष आदि शब्दों का अर्थ बनस्पतिपरक तथा पक्वान्नों आदि उत्तम खाद्य पदार्थों का किया जाता था। इसलिये इन आगमों में आये हुए मांसादि शब्दों का अर्थ प्राण्यंग तृतीय धातु मांस का समझना सर्वथा अनुचित है। (ख) जैन आचार-विचारों के अनुसार भी इन शब्दों का प्राण्यंग मांसपरक अर्थ सर्वथा प्रतिकूल है। (ग) जैन परम्परा के आचार संबंधी इतिहास से भी यही बात सिद्ध होती है कि भगवान् महावीर स्वामी से पहले के जैन श्रावक जो कि इनके पूर्वकालवर्ती भगवान् पार्श्वनाथ आदि के अनुयायी थे वे भी मांसाहारी नही थे। उन पार्श्वापत्य श्रावकों का अवशेष रूप "सराक" जाति का आज भी बगाल जैसे मांसाहारी देश में सद्भाव और उन का कट्टर निरामिषाहारी होना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। तथा भगवान् महावीर के बाद निर्मित होने वाली ओसवाल, पोरवाल, अग्रवाल, खंडेलवाल श्रीमाल आदि जैन जातियों का कट्टर निरामिषभोजी होना भी हमारी इस धारणा को पुष्ट करता है। जिस प्रकार जैन श्रावक निरा-

मिषाहारी हैं उसी प्रकार निर्ग्रंथ श्रमण (जैनमुनि) भी सर्वथा एवं सर्वदा निरामिषभोजी थे और हैं।

*ऐसा होते हुए भी अध्यापक कोसाम्बी का यह लिखना "कि उन्होंने (जैनों ने) मांसाहार का समर्थन इसी (बौद्धों) के ढंग से किया होगा क्योंकि पूर्वकालीन तपस्वियों के समान जंगल के फूल-फलों पर निर्वाह न करके लोगों की दी हुई भिक्षा पर निर्भर रहते थे और उस समय निर्मांस-मत्स्य भिक्षा मिलना असंभव था। ब्राह्मण लोग यज्ञ में हजारों प्राणियों का वध करके उनका मांस आस-पास के लोगों में बांट देते थे। गांव के लोग देवताओं को प्राणियों की बलि चढ़ा कर उनका मांस खाते थे। इस के अतिरिक्त कसाई लोग ठीक चौराहे पर गाय को मार कर उसका मांस बेचते रहते थे। ऐसी स्थिति में पक्वान्न की भिक्षा पर निर्भर रहने वाले श्रमणों को मांस रहित भिक्षा मिलना कैसे संभव हो सकता था।"

उन की यह धारणा सत्यता से कोसों दूर है। क्योंकि श्रमण भगवान् महावीर निर्ग्रंथ परम्परा के चौबीसवें तीर्थंकर थे उन से पहले तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ तथा बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्ट नेमि (नेमिनाथ) इत्यादि तेईस तीर्थंकर हो चुके थे जिन्होंने सर्वत्र अहिंसा का प्रचार कर जैन आचार-विचारों के पालन करने वाले समाज की स्थापना की थी, जो चतुर्विध संघ के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं का समावेश होता है। ये जैन श्रावक-श्राविकायें श्रमण भगवान् महावीर के समय में इनके दीक्षा लेने तथा केवलज्ञान प्राप्त कर धर्म प्रचार प्रारम्भ करने से पहले से विद्यमान थे सराक आदि जातिवत् कट्टर निरामिषभोजी थे। इन के अतिरिक्त अन्य निरामिषभोजी संन्यासी-श्रमणों के उपासक गृहस्थ भी निरामिषाहारी अवश्य विद्यमान होंगे। भगवान् महावीर के माता-पिता, तथा मामा महाराजा चेटक का परिवार तथा अन्य सगे सम्बन्धी भी निर्ग्रंथ श्रमणों के उपासक थे, अर्थात् जैन धर्मानुयायी थे।

श्रमण भगवान् महावीर के धर्मप्रचार से भी लाखों की संख्या में गृहस्थों ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था और वे बारह व्रतधारी श्रमणोपासक बन चुके थे। जिस से उस समय ये निरामिषभोजी भी सर्वत्र विद्यमान थे।

ऐसी अवस्था में भिक्षा पर निर्भर रहने वाले जैन निर्ग्रंथ श्रमणों को मांस रहित भिक्षा मिलना असंभव मानना कहाँ तक उचित है? पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

व्यक्ति दो कारणों से झूठ बोलता है। अज्ञानवश अथवा राग-द्वेषवश। सो कोसाम्बी जी की उपर्युक्त धारणा सत्य से कोसों दूर होने के कारण इन दो कारणों में से किसी एक कारण का शिकार अवश्य हुई है। अधिक क्या लिखें।

(१७) मनुष्य का उसके विचारों के साथ गहरा सम्बन्ध है। विचारो के अनुसार ही आचार होता है। जो यह मानता है कि आत्मा नहीं है, परलोक नही है, परमात्मा नहीं है उसका आचार प्रायः भोग-प्रधान रहता है। जो यह मानता है कि आत्मा है, परलोक है, आत्मा अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दुःख आदि फल को भोगता है, उसका आचार भोगप्रधान न होकर इसके विपरीत त्यागमय होता है। अतः विचारों का मनुष्य के ऊपर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए किसी के आचार-विचार को जाने बिना उस के विषय में सम्यक् निर्णय नहीं किया जा सकता। महात्मा बुद्ध मृतमाँस में जीव नहीं मानते थे, किन्तु निग्गठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) सब प्रकार के प्राण्यंग मांस को त्रस जीवों का पुंज मानते थे। इसलिये जब हम श्रमण भगवान् महावीर के जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि वे दीक्षा लेने से पहले गृहस्थाश्रम में ही सचित्त आहार के सब प्रकार से त्यागी हो चुके थे और निर्ग्रंथ श्रमण की दीक्षा लेने के बाद जब वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो चुके थे तब उन्होंने मोहनीय कर्म को सर्वथा नाश कर लिया था। उस समय उन्हें अपने शरीर पर किंचिन्मात्र भी मोह नहीं

था। वे अपने केवलज्ञान द्वारा यह भी जानते थे कि अभी उनकी आयु सोलह वर्ष और शेष है। वे यह भी अवश्य जानते होंगे कि पित्त-ज्वर, रक्तपित्त आदि रोगों के शमन करने के लिये वनस्पति से निष्पन्न निर्दोष और प्रासुक औषधियां भी सुलभ प्राप्य हैं। उनके उस समय लाखों की संख्या में निरामिषाहारी गृहस्थ श्रावक अनुयायी तथा उपासक विद्यमान थे। जब छद्‌मस्थ निर्ग्रंथ श्रमण भी मांसाहार का सर्वथा त्यागी होता है तब तीर्थंकर भगवान् का आचार तो उन निर्ग्रन्थों से भी बहुत उत्कृष्ट था। ऐसी अवस्था में ऐसा पाप-मूलक मांसाहार वे कैसे ग्रहण कर सकते थे? कहना होगा कि प्रभु महावीर पर मांसाहार का दोषारोपण करना चांद पर थूकने के समान है। फिर भी यदि कोई कहे कि रोग के शमन के लिये भगवान् ने "मुर्गे का मांस खाया, क्योंकि विवादास्पद सूत्र पाठ के अर्थ से भी ऐसा प्रतीत होता है" तो यह दलील भी उनकी युक्ति संगत नहीं है।

किसी भी बात का निर्णय करने से पहले इस विषय में लागू पड़ने वाले संयोग तथा आस-पास के संयोगों का विचार करके सत्य निर्णय करना सुज्ञ विद्वानों का साधु कर्तव्य है। हम इस निबन्ध में अनेक स्थलों पर इस बात के अनेक प्रमाण देते आ रहे हैं कि भगवान् महावीर ने प्राणि हिंसा तथा मांसाहार का उग्र विरोध किया था। ऐसे महान् अहिंसक को अपने सिद्धान्त की कदर न हो यह कैसे माना जा सकता है?

(१८) जैन सिद्धान्त के अनुसार (१) भगवान् महावीर का वज्र-ऋषभनाराच संहनन था। (२) उन्होंने छद्मस्थावस्था में घोरातिघोर उपसर्ग तथा परीषह सह कर भी अपने निर्ग्रंथ श्रमण के आचारों का दृढ़ता पूर्वक पालन किया था। (३) उन्होंने मांसाहार को नरकगति में ले जाने वाला बतलाया है। (४) मांसाहारी को कसाई (घातक-हिंसक) कहा है जो कि सर्वथा सार्थक है। कसाई शब्द कषायी का प्राकृत पर्यायवाची होता है। इसका आशय यह हुआ कि भगवान् महावीर के सिद्धान्तानुसार मांसाहार उत्कृष्ट कषायवान व्यक्ति ही कर सकता है।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी तो कषाय अज्ञानादि अठारह दोषों रहित सर्वज्ञ सर्वदर्शी थे, इसलिये कदाचित इनके रोग में मांसाहार गुणकारी भी होता तो भी अहिंसा के आदर्श उपदेशक तथा करुणा के अवतार श्रमण भगवान् महावीर कभी भी ऐसे अभक्ष्य पदार्थ को स्वीकार करें यह बुद्धिगम्य तथा श्रद्धागम्य नही है। (५) उन्हें तो अपनी देह पर भी ममता नहीं थी। (६) उन्हे यह भी ज्ञान था कि इस रोग मे मुर्गे का मांस घातक है। (७) उन्हे उनके रोग शमन के लिये वनस्पतिनिष्पन्न निर्दोष तथा प्रासुक अनुकूल औषधि सुलभ प्राप्य भी थी। ऐसी परिस्थिति में श्रमण भगवान् महावीर का मांसाहार ग्रहण करना कदापि संभव नहीं है।

निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर) अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जाने वाली, प्राणों की घातक, रोग की प्रकृति के प्रतिकूल तथा अभक्ष्य, महापापमूलक वस्तु अपने शिष्य सिंह मुनि द्वारा मंगा कर ग्रहण करे, यह बात समझदार व्यक्ति के गले कदापि नहीं उतर सकती।

(१९) रेवती श्राविका जो धनाढ्य गृहस्थ की स्त्री थी, बहुत ही समझदार और बुद्धिमती थी और बारह व्रत धारिणी भी थी। ऐसी उत्कृष्ट श्राविका ऐसा उच्छिष्ट मांस कैसे राध सकती थी? रांध कर बासी क्यों रखे? फिर भगवान् के लिये दे। ये सब बातें कैसे संभव हो सकती हैं?

जो स्वयं राँधे वह खाती भी होगी तब वह व्रतधारिणी कैसे हुई? मांस खाने वाली रेवती ऐसे बासी मांस का आहार दान करने से देवगति प्राप्त करे तथा तीर्थंकरनामकर्म उपार्जन करे, यह कैसे संभव हो सकता है? शास्त्रकार तो "तृतीयांग ठाणांग आगम" में कहते है कि इस सुपात्रदान के प्रभाव से रेवती श्राविका देवगति में गयी और आगामी चौबीसी में मनुष्यजन्म पाकर इस की आत्मा तीर्थंकर हो कर निर्वाण (मोक्ष) पद को प्राप्त करेगी। अतः इससे यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन पूर्वक बारह व्रत धारिणी श्राविका न तो कदापि प्राण्यंग मांस पका सकती

थी और न हो दान में दे सकती थी। क्योंकि यह बात उसके मान्य आचार और सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध थी।

(२०) भगवान् महावीर के रोग का विचार करते हुए तथा उनके आचार-विचारों को लक्ष्य में रखते हुए, एवं निग्रंथ श्रमण सिंह मुनि की चर्या का अवलोकन करते हुए श्राविका रेवती के पवित्र आचार को समझते हुए यह बात फलित होती है कि यह औषध प्राण्यंग मांस से निष्पन्न नहीं थी। मुर्गे का मांस रक्त-पित्त जैसे दाहक रोग में हानिकर है ऐसी वैद्यक शास्त्र की मान्यता होने से यह बात सर्वथा सत्य है कि जो औषध श्रमण भगवान् महावीर ने अपने रोग शमनार्थ ग्रहण की थी वह वनस्पतिनिष्पन्न, एषणीय, प्रासुक एवं निर्ग्रंथआचार तथा रोग-शमनार्थ सर्वथा अनुकूल थी।

(२१) कोई कोई आजकल यह कहते भी पाये जाते हैं कि वनस्पतियां पक्वान्न तथा खाद्य पदार्थों के लिये मांस-मत्स्यादि जो शब्द वनस्पतियों और प्राणियों अथवा वनस्पत्यंगों और प्राण्यंगों दोनों के लिये प्रयुक्त होते हैं ऐसे शब्दों का प्रयोग प्राचीन जैन आगमों में वनस्पति और पक्वान्नों के लिये क्यों किया गया? जब कि शब्दकोश में ऐसे शब्द भी मौजूद हैं जिनका प्रयोग मात्र वनस्पतियों के लिये ही होता है। ऐसा होने से तो मांस मत्स्यादि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण का सन्देह हो जाने के कारण अर्थ का अनर्थ हो रहा है। अतः आगम रचने वालों को चाहिये था कि वे ऐसे द्वयार्थक शब्दों का प्रयोग सूत्रपाठों में न करते, और यदि हो भी गया है तो ऐसे सूत्रपाठों को प्राचीन जैनागमों में से निकाल देना चाहिये।

आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले निग्गंठ नायपुत्त (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी) के उपदेशों का संग्रह उनके गणधरों ने किया उस समय इन विवादास्पद शब्दों का अर्थ वनस्पतिपरक तथा पक्वान्न आदि उत्तम खाद्य पदार्थों के लिये प्रयोग किया जाता था, इस बात का उल्लेख हम पहले कर आये है। भाषाशास्त्रियों से यह बात भूली हुई नहीं है कि देश तथा कालादि के भेद से शब्दों के अर्थ भिन्न हो जाते हैं। एकार्थक

शब्द अनेकार्थक बन जाते हैं तथा अनेकार्थक एकार्थक बन जाते हैं। अनेक शब्दों तथा लिपियों में एक दम परिवर्तन भी हो जाता है। जो शब्द आज किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है वह शब्द कालांतर में सर्वथा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है। सो आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले मगधदेश में बोली जाने वाली भाषा आज की भाषा से मेल कैसे पा सकती है। अतः सुज्ञ एवं निष्पक्ष विद्वानों को चाहिये कि वे किसी भी सूत्र पाठ का अर्थ करते समय देश, काल, परिस्थिति, आचार, विचार आदि को लक्ष्य में रखते हुए उन के अनुकूल अर्थ करके अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दें। यही उन के लिये शोभाप्रद है। किन्तु प्राचीन काल के एकार्थक शब्दों को अनेकार्थक बना कर अर्थ का अनर्थ करने की कृपा न करें।

(२२) वर्तमान समय में विवादास्पद सूत्रपाठों को निकालने का विचार भी ठीक प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि उस प्राचीन समय के सूत्रपाठों को निकाल देने अथवा उन शब्दों को बदल देने से जैनागमों की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता ही समाप्त हो जायगी। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की मौजूदगी में गणधरों द्वारा संकलित किये गये ये प्राचीन आगम जब उन के ९८० वर्ष बाद देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में लिपिबद्ध कर पुस्तकारूढ किये गये थे उस समय इस हजार वर्ष के अन्तर में भाषा, शब्दों, अर्थों के अनेकविध परिवर्तन भी अवश्य हो चुके थे, उस समय लोग प्राचीन अर्थों को भूलने भी लगे थे, बाहर से आने वाली अनेक जातियों के भारत में आकर बसने तथा उन के शासनकाल में उनकी भाषा राज्यभाषा के रूप में प्रचार पा जाने से प्रत्येक भाषा में शब्दों का आदान-प्रदान होने से उस समय की भाषाओं में अनेक प्रकार के परिवर्तन भी हो चुके थे। आज की हिन्दी, गुजराती, बंगाली आदि भारतीय भाषाओं का जब हम बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की भाषाओं से मेलान करते हैं तो इनके अन्तर का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आज से पच्चीस सौ वर्ष पहले "आम, आमगंध शब्द का अर्थ प्राण्यंग का कच्चा-

पक्का मांस किया जाता था परन्तु आज की बोल-चाल की भाषाओं में "आम" एक फल का नाम प्रसिद्ध है। यह तो हुई भूतकाल की बातें। वर्तमान काल में भी हम देखते हैं कि जिस एक शब्द का विशेष अर्थ पंजाब में एक प्रकार का किया जाता है उसी शब्द का अर्थ उत्तर प्रदेश में दूसरी प्रकार का किया जाता है। उदाहरणार्थ "कुक्कुड़ी" शब्द का अर्थ पंजाब में "मुर्गी" समझा जाता है और उत्तर प्रदेश के मेरठ आदि जिलों में "मकई के भुट्टे" के अर्थ में इसका प्रयोग होता है तथा मारवाड़ में इसका प्रयोग रूई के काते हुए सूत की गुच्छी के लिये होता है। इन सब बातों का विचार करने से यह स्पष्ट है कि वलभी में प्राचीन जैन आगमों को पुस्तकारूढ़ करते समय भी भाषादि के बदलने की समस्या उन गीतार्थ निर्ग्रंथों के सन्मुख अवश्य थी। यदि वे चाहते तो इन सूत्र-पाठों को निकाल अथवा बदल भी देते, फिर भी उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया? इस के पीछे उनकी बड़ी दीर्घ दृष्टि थी। यदि वे इन सूत्रपाठों को निकाल अथवा बदल देते तो (१) इन आगमों की प्राचीनता नष्ट हो जाती (२) भगवान् महावीर के गणधरों की मूल भाषा का अभाव हो जाता। (३) प्राचीन अर्द्धमागधी भाषा का इतिहास लुप्त हो जाता इत्यादि अनेक दोष आजाने पर भी यह समस्या हल न हो पाती, क्योंकि यदि उस समय भगवान् महावीर के एक हज़ार वर्ष के बाद भाषा तथा शब्दों के अर्थों में कुछ परिवर्तन हो चुका था तो स आगमों के पुस्तकारूढ़ होने के पन्द्रह सौ वर्ष बाद आज तक भाषाओं और उनके शब्दों के अर्थों में कोई कम परिवर्तन नहीं हुए। ऐसी परिस्थिति में फिर भी वैसी ही समस्या खड़ी रहती और अनेक सूत्र पाठों को आज भी बदलने की आवश्यकता पड़ती और भविष्य में फिर अनेक शब्दों के अर्थ बदलते रहने के कारण यह समस्या वैसी की वैसी ही बनी रहती बार-बार सूत्र पाठों के बदलने से प्राचीन जैनागमों का अस्तित्व ही न रह पाता। इसलिये यही उचित है कि वर्तमान में विद्वानों के सामने जो विवादास्पद सूत्रपाठ हैं उनका अर्थ निर्ग्रंथ (जैन) आचार विचारों तथा प्राचीन भाषा के अर्थों के अनुकूल

अर्थ करके सुज्ञ विद्वान अपने कर्तव्य का पालन करें। सारांश यह है कि सूत्र-पाठों का विपरीतार्थ करने से बहुत बातें विपरीत हो जाती हैं। किसी बात का समाधान होना तो दूर रह जाता है, परन्तु कई प्रकार की उलझनें उपस्थित हो जाती हैं। भगवतीसूत्र के इस विवादास्पद सूत्रपाठ का विपरीतार्थ करके अध्यापक कोसाम्बी जी, पटेल गोपालदास तथा उन के अनुयायी विद्वानों ने अपनी विद्वत्ता को बट्टा लगाया है। क्योंकि भगवान् महावीर के रोग में ली जाने वाली औषध का मांसपरक अर्थ चिकित्सा शास्त्र, निर्ग्रंथ आचार-विचार, श्रमण भगवान् महावीर की जीवनचर्या, समय, परिस्थिति आदि सब के प्रतिकूल है। अधिक क्या लिखे ?।

इस विवेचना से विद्वान पाठकगण समझ सकेंगे कि इस सूत्रपाठ का वर्तमान कालीन अर्थ करके गोपालदास पटेल तथा अध्यापक धर्मानन्द कोसाम्बी ने कैसी अक्षन्तव्य भूल की है ?।

अतः भारत सरकार की "साहित्य एकादमी" को चाहिये कि वह कोसाम्बीकृत "भगवान् बुद्ध" नामक पुस्तक को सदैव के लिये अशान्ति-जनक घोषित कर जप्त करे। इसी मे भारतसरकार की प्रतिष्ठा निहित है। सुज्ञेषु किं बहुना।